आर्जुनमालाकारम्

(गद्यकाव्यम्)

साहित्य निकाय व्यवस्थापक

श्री चन्दन मुनि

आर्जुनमालाकारम्

(गद्यकाव्यम्)

(हिन्दी भाषानुवादसवलितम्)

लेखक

साहित्यनिकाय-व्यवस्थापक

श्री चन्दन मुनि

अनुवादक

समाजभूषण श्री छोगमल चोपड़ा

बी० ए०, एल-एल० बी०

प्रकाशक

श्री रामलाल हसराज गोलछा

विराटनगर (नेपाल)

पुस्तक
भातु नमालाकारम्
(गद्यकाव्यम्)

अनुवादक
समाजभूषण श्री छोगमलजी
चोपड़ा B A LL B

व्यवस्था निर्देशक
छाजेड़ प्रकाशन
श्री ताराचन्दजी छाजेड़
बंगलोर

प्रबन्धक
श्री मोतीलाल पारख
श्री महादेवसिंह

अर्थ-सौजन्य
श्री रामलाल हंसराज गोलछा
विराटनगर (नेपाल)

प्रथम संस्करण
जनवरी
१९६६

प्राप्ति स्थल

रामलाल हंसराज गोलछा
द्वारा
हुलास मटल क्राफ्ट प्रा लि
विराटनगर (नेपाल)

छाजेड़ प्रकाशन
शांति भवन
६४ ए एम० रून
चिकपेठ बेंगलोर २ A

रामलाल हंसराज गोलछा
रतनगढ़ (राजस्थान)

मोतीलाल पारख
श्यामसुखा हाउस
ढड्ढों का चौक बीकानेर

मुद्रक
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस
१/११ महात्मा गांधी मार्ग
आगरा २

मूल्य
तीन रुपया

समर्पणम्

जीवन-साधनाया अमरसहयोगिना
पितृचरणाना
श्री केवलचन्द्रस्वामिना
चरणारविन्देषु

प्रकाशक के द।

* साहित्य वही है, जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए परम हित-कारी सिद्ध हो। ऐसा अमूल्य साहित्य, भारतीय सस्कृति मे आत्मदर्शी ऋषि-मुनियो ने समय-समय पर जिज्ञासु-जनो को दिया, जिसके द्वारा दिग्भ्रान्त व्यक्तियो को दिशा-सकेत मिला, अज्ञानावृतचेतना को सद्ज्ञान की उपलब्धि हुई और उत्कृष्ट अध्यात्म-भावना जागृत हुई।

* प्रस्तुत रचना भी एक चिन्तनशील, अध्यात्म-योगी, साधनारत, साहित्यकार मुनि श्रीचन्दनमलजी की अमरकृति है, जो वर्षो से सयम-साधना के साथ-साथ साहित्य-सेवा भी कर रहे हैं।

* अग्रणी अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के शासनकाल मे तेरापथ सघ मे सार्वजनीन, बहुमुखी, उच्चस्तरीय साहित्य का निर्माण द्रुतगति से चल रहा है और प्रकाश मे भी आ रहा है। आगम-सशोधन जैसा भगीरथ कार्य भी गतिमान् बन रहा है। उसमे सहयोग प्रदान करना हम श्रावको का भी पुनीत कर्त्तव्य है।

* 'आर्जुनमालाकारम्' जैसी गभीर साहित्य-कृतियो का भाव मेरे जैसे व्यवसायरत व्यक्ति के लिए समझ पाना व हृदयगम कर लेना सम्भव नही लगता। फिर भी ऐसा सुन्दर एव उपयोगी साहित्य मेरे यत्किंचित् सहयोग से विद्वानो, पाठको तक पहुंच पाए, इसी मे मेरी आत्मतुष्टि व श्रम सार्थकता है, क्योकि सत्साहित्य को प्रकाश मे लाना "अर्थ और श्रम का सदुपयोग है" ऐसी मेरी मान्यता है।

* सहयोगात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तुतकाव्य का हिन्दी भाषानुवाद समाजभूषण श्री छोगमलजी चोपड़ा B A LL B ने किया है जो श्री जनश्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कलकत्ता के वर्षों तक मंत्री व अध्यक्ष पद को अलंकृत करते रहे हैं। जिनकी सादगी प्रामाणिकता कर्त्तव्य निष्ठा तथा व्यवहार-पटुता सराहनीय होने के साथ-साथ हमारे लिए अनुकरणीय भी है। यद्यपि आपका संस्कृत व हिन्दी अध्ययन बंगाल प्रान्त में शिक्षा ग्रहण करने के कारण बंगालीभाषा के माध्यम से ही हुआ है फिर भी संस्कृतग्रन्थों के विशेष अध्ययन से आप उनका भावार्थ सहज ही हृदयगम कर लेने में सक्षम हैं। सम्बोधि आदि कतिपय संस्कृत ग्रन्थों का भाषान्तर हिन्दी तथा अंग्रेजी में आपने बड़ी सरलता से किया है। वर्तमान समय में आपकी आयु लगभग पचासी वर्ष की है। ऐसे कठिन काल में भी आपके उत्साह और क्रियाशीलता को देखकर महान् आश्चर्य होता है।

* बंगाली मिश्रित आपकी हिन्दी भाषा को न्यायतीर्थ श्री शोभाचन्द्रजी 'भारिल्ल' (जो विशाल साहित्य का सम्पादन कर चुके हैं) के अंगुली-स्पर्श ने एक ऐसा निखार ला दिया है जो पाठकों को अनुवाद सा प्रतीत न होकर एक स्वतन्त्र-काव्यग्रन्थ सा लगता है। अतः इन महानुभावों के श्रम का हृदय से स्वागत करता हुआ मैं कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

छाजेर प्रकाशन के व्यवस्थापक उत्साही कार्यकर्ता श्री ताराचन्द जी छाजेर (बंगलोर) धारक श्री सोहनलालजी चण्डालिया (राजलदेसर) प्रबन्धक श्री मोतीलाल जी पारख (बीकानेर) व श्री प्रद्युम्नसिंहजी (गौड़ि प्रतापगढ़) का सहयोग विशेष प्रशंसनीय रहा है। मुद्रण-व्यवस्था में विशेष सहयोग प्रदान करने वाले श्री श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' (आगरा) ने अत्यन्त साव धानी व मनोयोगपूर्वक इस पुस्तक के हर पहलू को सुन्दर व आकर्षक बनाया है। उन्हें शतशः साधुवाद देता हुआ प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

१ जनवरी १९९१
विराटनगर (नेपाल)

—रामलाल हंसराज गोलछा

स्वतः

इतो विंशतिवर्षेभ्यः पूर्वं यदाऽहमासं पञ्चापप्रान्ते[1] विहरमाणः । नाभा-नगरे सुखा प्रावृषेण्या स्थितिं प्रपूय सानन्दं समाणा-स्पथान[2] विधाय पद्वालय-पुर[3] प्राप्तवान् । हेमन्तं तारुण्यमानयमानो हिमालयसन्निधानतः प्रालेयपात-दुस्सहो दीर्घत्रियामः सहस्यो[3] मासस्तदानीम् । अप्राप्तबहुपरिचयास्तत्रत्या जनाः, तेन न सकुलता प्राय श्रावकाणाम् । सुतरां लब्धाऽवकाशेन मया प्रारब्धमस्तव्यकाव्य-निर्माणम् । भूरिपरिश्रमेण सुविहितपाठस्मरणं नवीनमासीद् मदीयं व्याकरण-पाठनेन पुनः । सुस्पष्टघोषो निर्दोषः कोषोऽपि स्मृतिपटमलङ्करिष्णुः । अनेक-नव्यानव्यभव्यकाव्यावगाहनेन अधिहृदयं प्रवहमाना समुज्ज्वला साहित्यरस-धारा । प्रारब्धं झगिति तद् विलसद् विशदभाववर्ति प्रतिभासदद् निष्प्रत्यूहम् । चलिता प्रातः सायं लेखनी विलम्बमसहमाना । पूर्तिमापन्न पृष्ठानामुपरि पृष्ठानि, तेन सावकाशा समुच्छ्वासा अपि समुच्छ्वसिता समजनिषत । नूनं तन्मयता-माराधयता मया एतत्काव्यं निर्मितिमानीतम् । विरचितदेशीयेऽस्मिन् काव्ये सहसा समभवद् गमनमस्माकमुपाचार्यपाद स्थलीप्रदेशे माघमहे । पुनस्ततो विहरता अजेयमेरु[4]-परिसरे परिभ्रमता काव्यमिदं पूर्तिमानीतम् । उत्तरोत्तरं मन्निर्मिता या गद्यकाव्यत्रयी तत्र पौरस्त्यमिदं प्रकृतम् ।

१—पंजाब प्रान्त २—पटियाला ३—पौषमास ४—अजमेर

मात्र निगूढशब्दशाम्बरी-कादम्बरीवद् विसकटसैरन्ध्रीपदवितततानि मसृणच्छ समासविन्यासदुरधिगमानि प्रतिपदमभिनवश्लेषविशेषक्लिष्टानि नवनवोपमाना समानभावभासुराणि अप्रतिमबुद्धिवभवसमभ्यसनीयानि च प्रकरणानि। अत्र तु सहसाऽल्पमतिवेद्यनिरवद्यपदावलिविलसितानि प्रस्फुरत्प्रत्ययवैयाकरणप्रयोग प्रोन्मिषितानि नानापर्यायवाचिसशासकेतितानि धार्मिक-सामाजिक-नीतिप्रतीति प्रोन्मीलितानि नातिविशालानि वर्णनानि। तेनेह अध्येता प्रलम्बारण्याध्वनि ससाध्वस प्रवर्तमानाऽध्वग इव न गमनखेदमनुभविष्यति प्रत्युत सुग्राह्यगम्य पदानि सहसाऽन्मसात्कुर्वाणोऽग्रसरत्वा प्रतिपत्स्यतेतरा निःसशयम्।

विशेषत—इदानीन्तने युगे विचित्रचलचित्रप्रेक्षणचञ्चलचेतसाम उद् भवद्विकारशृङ्गाररसप्रधानगानैकरसिकानाम कुमारी-कुमाराणा सहाध्याय प्रायो महाविद्यालयादिषु। तेषा पुरतोऽभिज्ञानशाकुन्तल-कुमारसम्भवादिमहा काव्याना तात्पर्यविमर्शविषय भृश काठिन्यमनुभवतितरा अपत्रपिष्णु मानसमध्या पकमहोदयानाम्। तत्रजागर्ति स्वयमेवतादृशाना काव्याना प्रबलतमाऽपेक्षा येषु स्पष्टमुल्लसति सात्त्विकी प्रवृत्ति तात्त्विकी चर्चा सदाचारनिष्ठा कर्तव्यबोध माहात्म्यमहिंसाया हिंसाया वैफल्य च तेनविस्मृतप्राया समीचीना प्राचीना भारतीय सस्कृतिलब्धप्रतिष्ठा स्यात। गीर्वाणी वाणीमध्येतुकामाश्छात्रास्तदव बोधेन साक लभेरन् जीवनोपयोगिपाठमपि। तादृशी पूर्तिश्चेदनेन काव्येनाशतोऽपि सभविष्यति तर्हि मम श्रमेणाऽवश्यमीपदुपकृतमिति मस्यते मामक चेत।

पुनरत्र वर्षीयसा समाजभूषणोपाधिविभूषितेन श्री छोगमलजिच्चोपडा महोदयेन यदनुदित सरलहिन्दीभाषाया का यमिदम् तत संस्कृतभाषाऽनभिज्ञा अप्यस्य वीरतोपजीविकथानकस्य रस पातु प्रयक्ता भविष्यन्ति तेन साधारण जनेष्वपि भावीद पुस्तकमवश्यमुपयोगीति आशासे।

स २ २५ पौषकृष्णद्वितीयायाम्
मसूर प्रान्तान्तर्गते बेंगलूर नगरे

—चन्दनमुनि
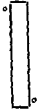
भूमिका

आर्जुनमालाकारम् इतिनामकमेतत्काव्य जैनवाङ्मय सुप्रसिद्धस्य 'अर्जुन इत्यभिधस्य मालाकारस्य आख्यानेन सम्बद्ध विद्यते। काव्यकर्तु संस्कृतभाषानिबद्धमेतत् प्रथममेव गद्यकाव्यमस्ति। अस्य निर्मिति पञ्चोत्तर द्विसहस्रपरिमिते विक्रमाब्दे समजनि। शिक्षार्थिना शिक्षण प्रक्रियाया सहयोग दातुकामेन कवयित्रा निरमायि काव्यमेतद। अस्य प्रशस्ति-श्लोकेषु कवि स्वय-मभिव्यनक्ति "कृत श्रमोऽस्य तदनुग्रहेण, लघीयसा बोधविवृद्धिहेतो।"

काव्यकारो श्री चन्दनमुनि प्रतिभा-विभा-विभासित-व्यक्तित्वेन सम्पन्नश्च-कास्ति। स्वय साधनाप्रियत्वात् तत्काव्य-प्रतिभापि तदध्यानमेवानुसरेदिति नास्वाभाविकम्। अयमेव हेतुयन्निज-भावाभिव्यक्तये स किमपि शृङ्गाररसप्रधान-माख्यान विहाय शान्तरसमूलकमध्यात्मभावसभृतमाख्यानमेवाचैपीत्। अस्या काव्य-निर्मितौ कविना पुराण-परम्पराया स नियमो न मानितो यस्यानुसार काव्यस्य नायकेन केनचिल्लोक-प्रसिद्धेन, उच्चकुलोद्भवेन वीरोदात्तेनैव नरेण भवितव्यम्। अस्य काव्यस्य नायकोऽस्ति एकोऽतिसाधारणो जन अर्जुन नाम-धेयो मालाकार।

संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति प्रथमस्य काव्यस्य मूलस्वरोऽस्तीति वक्तु पार्यते । यच्च एकस्या अघटनीयघटनाया आघातेनाहतोऽर्जुन समग्रा मानवजाति प्रति विद्रोहिभावमापन्न प्रतिदिन सप्तजनव्यापादन सकल्पजाल-जटिलमानस समजनि । स एव च कालान्तरे अन्यघटनाप्रभाव प्रेरित प्रतिबुद्ध सन् भगवतो महावीरस्य शिष्यत्वमुरीकृत्य अहिंसासाधनानिरत स्वपरकल्याणहेतुरभूत । अनेन एतदपि सुस्पष्टीभवति यत् मनोरथपथाना पतनोत्थाने अनन्तसभावनासकुलिते स्त । ततो निश्चप्रचमेतन्निगदितुमवकाशोऽस्ति यत पतनगर्तावर्त्तेऽभ्रम्यमाणस्यापि पुस पुनरुत्थानावसरस्य समुज्ज्वलाशा न कदाचिदपि धूमाविला भवितु शक्यते ।

काव्यशब्देन साक प्राय पद्यात्मकताया बोधो बलात् सयुज्यते परन्तु गीर्वाण गिरि पद्यात्मकानामिव गद्यात्मकानामपि काव्यानामविच्छिन्ना परम्परा विराजते । गद्य कवीना निकष वदन्ति' इति समुल्लेखेन विबुध भारती विशारदा कवि निकषत्वेन पद्यतोऽपि गद्य बहु अमसत । मुनिप्रवरेण गद्य-काव्य परम्परा अत्राथ नीता तत्र सुर भारती भाण्डागारश्रीरपि विवर्द्धिता । सुतरा सर्वथा स्तुत्योऽसौ प्रयास । विद्यार्थिवर्ग स्वयमनेन समुचितलाभान्वितो भविष्यतीति विश्वसिमि ।

वि स २ २५ पौषशुक्लसप्तम्याम्
तेरापथ भवने मद्रासनगरे

—मुनि-बुद्धमल्ल

ससगजा दाप गुणा भवन्ति यह इस काव्य का मूल स्वर कहा जा सकता है। एक घटना विशेष के प्रभाव से अर्जुन समग्र मानवजाति के प्रति विद्रोही बन बठा। प्रतिदिन सात व्यक्तियो को मार गिराने का महान् हिंसक सकल्प उसके मन म बद्धमूल हो गया। कालान्तर मे दूसरी घटना के प्रभाव से वह प्रतिबुद्ध हुआ और भगवान् महावीर का शिष्य बनकर अहिंसा धर्म की साधना करता हुआ स्व पर कल्याण का हेतु बन गया। इससे यह भी सुस्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति के पतन और उत्थान की अनत सभावनाए है। तो फिर यह सुनिश्चित है कि पतित हो जाने पर भी मनुष्य के पुन उत्थान की उज्ज्वल आशा कभी धूमिल नही हो पाती।

काव्य शब्द के साथ प्राय पद्यात्मकता का बोध जुड जाया करता है परन्तु सस्कृत भाषा मे पद्यात्मक काव्यों के समान गद्यात्मक काव्यो की परपरा भी रही है। गद्य कवीना निकष वदन्ति कहकर सस्कृत मनीषियो ने कवि की कसौटी के रूप मे पद्य को नही गद्य को मान्य किया है। मुनिश्री ने गद्यकाव्य की परपरा को जहाँ आगे बढाया है वहाँ सस्कृत भारती के भडार की भी श्री-वृद्धि की है। मुनिश्री का यह प्रयास प्रशस्त स्तुत्य है। विद्यार्थी इससे समुचित लाभ उठायेंगे—ऐसा विश्वास करता हूँ।

वि स २ २५ पौष शुक्ला ७
तेरापथ भवन मद्रास

—मुनि बुद्धमल्ल

आर्जुनमालाकारम्

(गद्यकाव्यम्)

साहित्य-निकाय व्यवस्थापक

श्री चन्दन मुनिः

प्रथमः समुच्छ्वासः

मङ्गलाचरणम्

शमरसपरिपूर्णाऽमुद्रितोन्निद्रदृष्टि[१],
सकलभयविमुक्ता निश्चला ध्यानमुद्रा।
भवतु जिनपतीना बद्धपद्मासनाना,
भवदव-दरिताना देहिना शान्तिदात्री ॥१॥

प्रतिवचनपटिष्ठा सूक्ष्मतत्त्वैकनिष्ठा,
व्यपगतभयकोपा नव्यदृष्टान्तदक्षा।
अनुसृतजिनवाक्या भूरिसन्देहहर्त्री,
जयतु जयतु [२]भिक्षोर्बुद्धिरौत्पातिकी सा ॥२॥

शीर्षे कर प्रेमयुत ददान,
ईषद्धसामाकृतिमादधान।
"मूर्खा न वेत्तीति" वचो ब्रुवाण,
पायात्सदा कालुगणीश्वरो माम् ॥३॥

---

१ उन्निद्राचामीदृष्टिश्च उन्निद्रदृष्टि, अनुन्मुद्रिता उन्निद्रदृष्टिर्यस्या सा ध्यानमुद्रा।

२ भिक्षुस्वामिन ।

या हृद्हिमाद्रश्चलिता नितान्त
प्रसन्नवैराग्यजलेन पूर्णा ।
पुनातु दुर्णीतिमल हरन्ती
वाग्जाह्नवीय तुलसीप्रभूणाम् ॥४॥

अचिन्तनीयो महता प्रभाव
शोश्रूयते सूक्तिरिय बुधानाम् ।
सा सत्यता याति च वस्तुतोऽपि
जनेषु तद्भासित भावनेषु ॥५॥

किं वस्तुजात वसुधातलेऽस्मिन्
विभाति यन्नो महता प्रभावात् ।
आविर्भवेद् भव्यहृदा पुरस्तात्
महत्प्रभाव खलु कल्पवृक्ष ॥६॥

पापीयसामग्रसरा नृशसा नितान्तहत्याऽरुणपाणियुग्मा ।
भवन्ति ते विश्वजनीनवृत्ता महीयसा शासनमाश्रयन्त ॥७॥

अर्जुनमालाकार स्वागमविदितो निदर्शन चात्र ।
तदेवाधिकृत्येद काव्य निर्माम्यह तनुधी ॥८॥

किं विद्वमान्याना हृदयग्राही परिश्रमो भावी ।
इति न मया निर्णेय भवेत्स्वतन्त्रा हि शिशुलीला ॥९॥

कथारम्भ

'राजा प्रकृतिरञ्जनात् —इति रघवशे ।

आसीदशेषदेशशेखरायमाणो भरतक्षेत्रान्तवर्ती मगधो नाम जनपद । तत्र विविधाऽभ्र लिहसौधश्रेणिभिर्वर्धमानश्रीकम् नानावाणिज्य विज्ञवणिग्जनवर्गविस्तृतव्यापारम् अभिभूतधनदविभवभाग्य शालिभूरिविभूतिमद्भिर्निभृत भृतम् सुहढवप्रगोपुरखातिका

---

१ सूक्ति ।

२ अभ्रमप्रग वा सरतीग्यपसर मूभ अ इति एन्न्तमपि निपात्यते कय नहि— भूप तदभ्रमरर्गर्वितभ्रम्यसारम् इति बहुलराधिति हरदत्त ।

प्रभृतिभिर्विगतागातिभयम्, 'दविष्ठनीवृदागतैरनेकक्रयिकविक्रयिकैः सङ्कुलापणमालम्, विशुद्धाज्यमधुधूलिसमितादिनिष्पन्नैर्विविधस्वादु-मिष्टान्नैः सकीर्णं कान्दविकहट्टम्, इतस्ततोवम्भ्रम्यमाणैः कतिपय-पण्याजीवैः सततशब्दायमानम्, मर्त्यलोकेऽपि स्वर्गलोकसदृक्षं जैनागम-प्रसिद्धं राजगृहं नाम नगरं वसुमतीमस्तकमभूषयत्। तस्मिन् हरिरि-वाखण्डितशासन, केसरीवाक्षुण्णशौर्यधर, अर्यमेव दुर्धर्षदीधिति, शशीव सौम्यमूर्त्ति, गीष्पतिरिव विद्योदधिपारग, भीष्म इव सुदृढप्रतिज्ञ, रत्नसानुरिव रणनिष्कम्पचरण, कल्पशाखीव दानशौण्डीर, मितद्रु-रिवानतिक्रान्तमर्याद, नन्दनन्दन इव राजनीतिकुशल, कमलवन्नि-र्मलविचारस्वच्छहृदय प्रभातसमय इव प्रबोधकोविद, वासन्तपवन इव जगदानन्दकारी, गङ्गाप्रवाह इव निर्धूतकल्मष, अयनानोकह इव श्रान्ताश्रयणीय, नभस्वानिव स्वतन्त्रविचार, हिमवानिव सीमा-रक्षक, श्रेणिको नाम राजा प्रजा अन्वशात्। स नृपोऽभयोऽपि त्रस्तपापभय, सदयोऽपि दुष्टदण्डने निर्दय, सहिष्णुरपि अन्यायमसहि-ष्णु, अगर्वोऽपि धृतनीतिगर्व, नितान्तविक्रान्तोऽपि परपीडाकातर, प्रजापतिरपि प्रजासेवक, सुखोचितोऽपि परिश्रमपर, कोपप्रसादयो स्वतन्त्रोऽपि पुनः राजनीतिपरतन्त्र सकलैर्जनैरन्वभावि।

पुनः स प्रजास्वनुशासनं न स्वौद्धत्येन विदधे, किन्तु कर्तव्यमुररी-कुर्वाण, प्रजाभ्यो दण्डराजदेयादिद्रव्यं गृह्णन्नपि न स्वकीयोपभोग-सामग्री विवृद्धिमानिन्ये, किन्तु तत् प्रत्युपकाराय प्रजानां व्ययाञ्चक्रे। तथा स परिवर्तितवेषो निशीथिन्यां नगरस्य त्रिकचत्वरादिषु पानगृहपान्थशालास्वापणासु सकीर्णवीथिष्वपि चाज्ञातमटाट्यमान स्वीययश श्रोतुमुत्सेहे। कदाचिदात्मीयमस्तोकं श्लोकमाकर्ण्यापि न जहर्ष, किन्तु आत्मानं निगूहमानो केनचित् व्याजेन कामपि त्रुटिं प्रदर्श्य जनं बोधमुन्निनाय। कस्यचिन्मुखात् कामपि दोषगाथा-माकर्ण्यापि न तस्मै चुकोप, किन्तु तद्रहस्यालोचनवशंवदो बभूव।

समये-समये सभास्तु भाषमाण स इत्थमुदीरयन्नासीत् "प्रजामनु-रञ्जयन् ननु नृपो महीपालश्चिराय नन्दति, नहि प्रजा प्रतिकूल-यन्। प्रजानुमतं हि शासनं प्रतिदिनमेधते, नहि प्रजातिरस्कृतं केवल

---

१ [illegible]।

२ [illegible] इव।

नपाभिमतम् । प्रजा हि जीवन राज्ञाम् प्रजा हि मूलं राज्यस्य प्रजा भिरेवाऽलाप्यो भवति सम्मानसूचकरिद्रनाथादिशब्द । न स्मयते किमु प्रथम क्षमापति रादीश्वरो विनीतावास्त यैरेव योग्यो निर्वाचित ? नावबुध्यते किमुत पिशितलोलुप शिशुभक्षणपरः सौदास प्रजाभिरेव निर्वासित शीघ्रमयोध्यात । कि बहुना प्रजापालनमेव राज्ञा धर्म नहि प्रजा शोषण किन्तु । किञ्चिदसमवहिते हि राजन्यनेकेऽनर्था समुद्भवन्ति राष्ट्रे षु, भूरय उपप्लवा अनुभूयन्ते तत्रत्यै प्रतिपल सशेरत जनानामन्त करणानि विलीयन्ते च सर्वेऽपि प्रकृतीना कल्पि तमनोरथा क्षीयन्ते प्रतिपद सपद सततमत सावधानेन वसुमती पतिना भाव्यम् ।

निगदन्ति नीतिकोविदा अपि इदमेव— धमपरे राज्ञि सर्वा दिशो भवन्ति प्रजाना कामदुघा नि सशय मोदन्ते मनुजाना मानसानि स्वात न्त्र्यमनुभवन्ति चत्वारोऽपि वर्णा ऋतवो नातिक्रामन्ति स्वमा तव धमम् विलसति शस्यश्यामला राजवती[1] वसुधा गृहे-गृहे राजन्ते नैचिक्यो गाव सकीर्णानि स्युग हमेधिना प्राङ्गणानि पुत्र पौत्रवृन्दै परेषा पतितमपि स्वापतेय स्वीकर्तु नोत्सहन्ते मर्त्या मातर इव मह्यन्ते तत्राऽपरमहिला साधु सम्मान्यन्ते महनीयवृत्ता मुनय अमुलङ्घ्यमामनन्ति गुरुजनवचनप्राकार लघीयास शुभ्र विभ्राजते तत्र सौभ्रात्र प्रेम नहि भर्त्त माश्रा साध कलहायन्ते कुलवध्व सतुनियन्ते गहागताऽतिथय नहि स्यात् तत्र चौर-पार दारिक-वञ्चक-पश्यतोहराणा च प्रायिकोऽवकाश इत्यादिसूक्त सामाजिकान् परितोषयति स्म स ।

पुन स मम्भासारो भगवता चतुस्त्रिंशदतिशयैरतिशयिता नाम् पञ्चत्रिंशद्गीगुणैर्विशदव्याख्यामानानाम कामभिथ्यात्वाज्ञान प्रमुखरष्टादशदोषैरप्रक्ष्यमाणानाम् अ्यापाद्य मोहमहाराजमासादित केवलकमलानाम सुरासुरनरेन्द्रसमूहै प्रणताङ्घ्रिसरोरुहाम् इन्द्र भूत्यादिमुमुक्षुर्येक्षै चन्दनबालादिसतीमतल्लिकाभिश्च सभक्ति समुपा स्यमानानाम् श्रीवर्धमानस्वामिनामन्तेवासी अभिगतजीवाजीवा दितत्त्व व्यवसितद्रव्यषटकसुन्दररहस्य विरचितव्रताव्रतविवेचन

---

१ राजवान् सुराज्ञि इति मतुप्रत्यय ।

२ नैचिकी तूत्तमा गोषु इति हैम ।

सावद्यनिरवद्योपादानद्वयेन सुज्ञातानुकम्पाद्वैविध्य, अनवरत वैपरी-त्यवृत्तित प्रतिपन्नसस तिनिवृ तिपथपार्थक्य, 'पात्रापात्रविवेचक-सर्पसौरभेयीनिदर्शनेन विशदीकृतवितरणविवेक, सुनिश्चितनिर्जरा-नुगतपुण्यप्रचय, सुविलोडितनयन्यासप्रमाणकल्लोललोल-स्याद्वा-दवारानिधि, चतुर्थगुणस्थानस्थायी श्राद्धश्चासीत्। देवाधिदेव-मेव स देवत्वेनाऽर्चं, नहि रागद्वेषादिपङ्ककलङ्कितान् निग्रहानुग्रह-कारकान् भूयो-भूयो भूभारमाहर्तुं धृतावतारान् सतत सपत्नीकान् अन्ययूथिकदेवान्। षट्त्रिंशद् गुणगुणैरगम्यगौरवम्, बाह्याभ्यन्तर-ग्रन्थिविप्रमुक्तम्, हृदयान्धतमसविनाशने मार्तण्डमण्डलायितम्, भवाम्बुधौ निमज्जता जन्तूना निस्तारणे पोतायितम्, परमपवित्राचार गुरु गुरुधिया निषेवते स्म स। अर्हन्मुखारविन्दादाविर्भूतम्, अनेक-जन्मजन्मान्तरसञ्चितकलुषकलापकर्तनकुशलम, भवदावदह्यमानदेह-भृद्रक्षादक्षम्, शरणमशरणानाम्, बन्धुमबन्धूनाम्, धन दरिद्राणाम्, स्थान बम्भ्रम्यमाणानाम्, सुख दु खाकुलानाम्, सहायमसहायानाम्, अभय भयद्रुतानाम्, बल निर्बलानाम्, अमृत म्रियमाणानाम्, राजपथ-मज्ञातनिगमानाम्,[2] भैषज्यमामयाविनाम, मित्र शून्यहृदयानाम्, परम-मङ्गलम्, अहिंसामयम्, विनयमूलम्, त्यागप्राधान्यम्[3], जिनाज्ञान्तर्गतम्, सवरनिर्जरात्मकम्, ध्रुवम्, सार्वजनिकम्, दुर्गतिनिपतज्जन्तुजात-धारणक्षमम्, धर्मं निश्चलधिया श्रद्दधे स सुतराम्।

इमा परमानर्घ्यां परमात्मनीना परब्रह्मसाधनी रत्नत्रयी परमभक्त्याऽऽराधयन्त शङ्काकाङ्क्षादिदोषैरदुष्ट शमसवेगादि तल्ल-क्षणैर्विलक्ष क्षायिकसम्यक्त्व परिपालयन्त, धर्मानुरागरक्ताऽस्थिमज्ज त नृप परिपक्वप्रत्यय नहि निर्जरोऽपि धर्माच्चालयितु शशाक स्वप्ना-वस्थास्वपि।

शचीव दुश्च्यवनस्य[4], रोहिणीव हिमद्युते, रतिरिव मधुसारथे, श्रीदेवीव सार्वभौमस्य, तस्य राज्ञोऽवरोधमलञ्चक्रे चिल्लणानाम्नी महिषी। सा स्वकीयाऽलौकिकललितलावण्येन, विलसत्सौन्दर्य-

---

१ 'पात्रापात्रविभेदोऽस्ति, धेनु०' इत्यादि।

२ अविदितमार्गाणाम्।

३ त्यागेन प्राधान्य-प्रधानत्व यस्य तम्।

४ इन्द्रस्य।

विततताारुण्येन जहास कात्यायनीमपि[1]। सा साध्वीमतल्लिका पाति व्रत्यरायणा पराबभूव परिप्लवा कण्टकाकुलपदा पद्मवासामपि। सा चतुःषष्ठीकलाकोविदा विविधकाव्यालङ्कारनदीष्णाता अनेक सूक्तिपद्यमुखरितमुखारविन्दा इतिहासपुराणनाटकादिभेदविदुषी शारदामपि च समुन्निन्ये विवदितुम्। पुनः सा चेटकनपपत्नीत्वात्पर माईती जन्मतोऽप्यार्यदेवार्याणा शिष्या हृदयङ्गमीकृतनवतत्त्वसत्त्वा नितान्तमदोलायितमानसा परमश्रद्धया सुतरां सिषेवे श्रेष्ठा जैनी दृष्टिम। पूर्वं भर्त्रा बहूपद्रुताया अपि असत्याऽन्याय न्यासेन निजिघृ क्षिताया अपि नानाजटिलपर्यनुयोग प्रत्यहमनुयोजिताया अपि कृत्रिमजनमुनिगर्हया जुगुप्सा नीताया अपि नानाकपटघटनया विप्रतारिताया अपि च तस्या नहि चकम्पे खल्वेकापि रोमराजी जैनदर्शनत। नहीपदपि समशमिष्ट[2] स्वान्तमपि चाहंत्यविचारपारासु प्रत्युत सा पतिमपि पारगतपथ प्रति प्रणेतु प्रयतितवती। मिथ्या त्वाद्यरातीन चञ्चज्ज्ञानचन्द्रहासेन क्षपयितुमुच्चण्ड चण्डीरूप मादर्शितवती। नैयायिके पथि नि सकोचमाव्रजन्ती वाचयमचेला नाभेजयाञ्चक्र चेतास्यपि तद्विचारधाराभि सह। अन्ते सा चारु चारित्रमूर्ति सुसम्प्राप्तसाफल्या विजिग्ये[5] निज भर्तारमपि स्याद्वाद धाध्वन्यध्वनीन त पूर्णरूपेण प्रेक्षमाणा। अस्तु, दाम्पत्यप्रेम्णा औचितीमनतिक्रामन्तौ राजनीतिकुशलावपि दत्तधर्मैकलक्ष्यौ जगता पुरत उच्चमादर्शमादर्शयन्तौ सीतारामचन्द्राविवाऽपरौ जनै रतर्किषाताम्।

तस्य राज्ञ केवलबुद्धिपरमाणुभिरिव वेधसा रचित पिण्डीभूतो विवेकोऽथवा विनिर्मितनराकृति जगद्वैचित्री दिदृक्षुरथवा धिषणो[7] धरातले धतावतार द्विकरोऽपि सहस्रकर इव मार्गनिर्देष्टा

---

१ कात्यायनी त्वर्धवृद्धा' इति वचनात् हास्यास्पद सा।
२ प्रणाय-जालम्।
३ निग्रहीतुमिष्टाया अपि।
४ सञ्चतेस्म।
५. कुत्सिता वाचयमा वाचमप्रचलास्तेषाम्।
६ विपराम्या जरित्मात्मने पदम्।
७ बृहस्पति ।

द्व्यक्षोऽपि सहस्राक्षइवातिदूरदर्शी, एकशीर्षोऽपि सहस्रशीर्ष[१] इव परामर्शपटु, मुखविकारकराभिनयाभ्यामपि मन स्थमप्यर्थमभ्यूहयितु प्रवण, प्रतिध्वानेनापि परमन्त्ररहस्यनिष्कर्षनिपुण, श्रायवृद्धि व्ययौचिती स्वामिरक्षण तन्त्रपोषण च कर्तु नितान्तविचाराधीन, साम-दाम-दण्ड-भेद-नीतिकुशल, कोश वर्धयन्नपि नहि प्रजारक्तशोषणोद्यत, प्रियवदतया हितमुदीरयन् नहि चाटुकारत्ववशवद, नहि स्वार्थान्वितया स्तोकमपि राज्ञोऽनर्थ सहिष्णु, परमधार्मिक पवित्राचरण, प्रेयानगृध्नुर्नन्दातनुजोऽभयकुमारनामा धीसखो[२] निर्भय राज्यभार बभार।

यस्य बुद्धिवैलक्षण्य विलोक्य सुदृढ चातुरङ्गिकवाहिनीवलमाभेजाना अपि प्रत्यवस्थातार[३] पृथ्वीपाला श्रेणिकशासनाद् नितरामाशशङ्किरे। येन चतुर्विधया धिया एतादृशान्यपूर्वाणि स्वप्नेऽप्यसम्भावनीयानि कार्याणि निरमामिषत, यै प्रत्यर्थिभि कल्पिता पर शतमनोरथा अभ्रविलाय विलीना। तेषा हृदये चेट्टक चाकचिक्यमाविर्भावितम् यन्नूनमयमतुच्छबुद्धिविभव कुशाग्रीयमतिर्यावदभयकुमारोऽमात्यप्रवर सुख विराजतेतराम् तावन्नेद शासन पाकशासनस्थाम्नापि[४] सपत्नेन विजेतु शक्यम्। भम्भासारोऽपि तादृश मन्त्रिण पुत्रमासाद्य सुदृढस्तम्भस्थ प्रासादमिव, निबिडप्रकाण्ड कारस्करमिव, समेधित खलमिवाऽमस्त नैजमाधिपत्यम्। कदाचित् काचिदपि चिन्ता नपचेतश्चेच्चचुम्ब, तदानीमभयकुमारस्य पुरस्तात् प्रकाशनमेव तत्प्रतीकार समजनि भूरिण्युदाहरणानि त्वद्याप्युल्लेखशेखरतामादधतितमाम्।

पुनस्तत्रत्या सर्वेऽपि जानपदा धनाढ्यास्तनुसम्पदो वा हर्म्ये दीपकमिव, सरसि घनरसमिव, देहे चैतन्यमिव, हृदये कारुण्यमिव, क्षीरे हविष्यमिव, पठिते विवेकमिव वैश्वानरे चौष्ण्यमिव, त नान्देय[५] चिराय ननन्दु। तादृशे बुद्धिप्रबले मन्त्रिणि गर्वमवलम्बमाना निज-

---

१ शेष इव।
२ मन्त्री।
३ प्रत्यनीका।
४ इन्द्रतुल्यशक्तिभाजापि।
५ नन्दाया अपत्य नान्देयम्।

निज भागधेय भूरि भूरि प्रशशसु । सत्पुरुषसयोगोऽथवा न केषा जाजायते नाम शान्तिकारणम् ? अस्तु श्रेणिकेन सनाथिते अभय कुमारेण सुरक्षिते च तस्मिन् साम्राज्ये मर्त्यलोकेऽपि स्वर्लोकसुख मनुबभूवु प्रजा प्रतिपलम् ।

इति श्रीचन्दनमुनि विरचित आर्जुनमालाकारे गद्यकाव्ये
नगर-नृप-महिषी-अभिवर्णनात्मक
प्रथम' समुच्छ्वास'

द्वितीयः समुच्छ्वासः

यौवन धनसम्पत्ति, प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम् ?

—(नीति)

अस्मिन् परिवर्तिनि ससारे नहि केऽपि पदार्था एकरूपतया स्थितिमश्नुवते । "गच्छतीति जगत्" इत्यन्वर्थेन ध्वनिना स्पष्टमित्यभिव्यज्यते यत्राधुनाऽक्षतसुखमवभासते तत्र कियता कालेनावश्यभावि दु खम, यत्र साम्प्रत मङ्गलनिनादा हरिदन्तान्[1] मुखरीकुर्वते तत्रैव कश्चिदऽनेहा[2] श्रावयति कर्णकटुकान कर्कशक्रुष्टशब्दान्[3], यत्रेदानी अजीनमजर्यराजीव[4] उद्गिरति परमप्रीतिसौरभ तत्रैव विधिर्निदर्शयति विजृम्भमाणवैरवाडवानलम् । ये च धनाढ्या धनेनाधरीकुर्वन्ति धनदमऽपीदानी तेऽपि कतिपयक्षणानन्तर क्षीणसम्पदो बुभुक्षाक्षाम-कुक्षयो लक्ष्यन्ते परमुखप्रेक्षिण । ये च केचन गर्वपर्वता ऊर्ध्वीकृतोत्तमाङ्गास्तृणाय जगन्मन्यमाना भ्रुतमभ्रुतीकुर्वाणा सहेल खेलयन्तो दृष्टा, तेऽप्यधुना नतमूर्द्धानो विस्मृतस्मया म्लानवदना विधि-

---

१ दिगन्तान् ।
२ काल ।
३ रोदनशब्दान् ।
४ अजर्य-मैत्री, तदेव राजीव-कमलम् ।

वचिभ्यविधरा पराभूय त पाशुलपादरपि। अहो ! नहि सदृश समयो वर्वर्त्ति चर्कर्ति च कार्यम्।

अस्तु श्रेणिकसाम्राज्य सवसुखमय कथमुपप्लवजलपूरेण प्ला वयत भीमा भाविनी रेखा ? कथमऽल्पीयानपि कृशानुकणो निदर्शयति खाण्डववनदाहृताण्डवम् ? कथ सूक्ष्ममपि चैनोबीज फलति परोलक्षाणि हलाहलफलानि ? इति श्रोतव्य सावधान सर्वैरपि—आसीत्तस्य राज गृहस्यैशाने दिगविभागे विविधकदम्ब निम्ब-जम्बीर रसाल-तालादि शाखिभि श्यामलच्छाय मुचारु पल्लवित-पुष्पित-फलितकारस्करै मनोहारि नितान्तनगनिकायनिषेकतत्पराभि शीतलसलिलसारिणि भिरापूर्यमाण-क्षुपालवालम् नाना मयूर शुक शारिका-कोकिलादि शकुनिकूजितर्जेगीयमानगुणम् प्रस्फुरत्कमलपरिमलहिमकरकरनिकर धवलमधरसनिलनिभ तै विशिष्टप्रस्तरोत्करनिबद्धतटैर्वर्तुलतटाक रुपशोभित-चतुष्कपथम् विनिर्जितमार सुकुमारै सपत्नीक धनि-कुमार रटाट्यमानदूर्वातलम कठिनपाठरटनपटभि परोक्षो मुखैश्छात्रवर्गैनिरु द्धाऽनेकतरुमूलम्, कतिभिश्चिद् वैद्यनिर्दिष्टकायश्रमैरामायाविभि ससेव्यमानविशुद्धवातम् पिण्डस्थपदस्थादिध्याननिमग्नमानसै रेकपुद्गलार्पितार्घोन्मिषितदृगभिस्तपोधनैर्निर्मलीकृतनिकुञ्जम् प्रत्यक्ष नन्दनवनमिव गुणशीलनामकमुद्यानम्।

तस्यवोद्यानस्यान्तगता विभिन्नवर्णविकसितपाटलप्रसून[1]पटलमिषै प्रकटयन्तीवविश्ववैचित्रीम् मल्लिकाजाति यूथिका ह्यनेकमणीवक[2]प्रातनि दशयन्तीवानेकात्मकवस्तुस्थितिम् चम्पकक्षरो सुरभीणि हैमपुष्पाण्याबि भ्रती हसन्तीव जम्बूवृक्षस्य सौवर्णसुमसन्दोहम् समीरेण सम जनम नोहारिस्फुरदामोद कङ्कुम्सु[3] प्रेषयन्ती दूरेणागच्छत पथिकानाकारयन्ती व प्रतिपलम् मधुकराणा मञ्जुगुञ्जारव याजैजनाना पुरत स्थापय न्तीव स्वमकरन्ददानदक्षताम्, ईपत्स्मेरै[4] कोरकनिकुरम्बै स्पष्टय तीव

१ पाटलप्रसून—गुलाब के फूल।
२ जाई चमेली।
३ जूई इति ख्याता।
४ मणीवक-पुष्पम्।
५ दिक्ष।
६ किञ्चिद्धसित।
७ कलिकासमूहे

वाल्यकालनिर्मलताम्, कामकेसरिणो गुहेव नीरन्ध्रनिकुञ्जा परमरम-णीया नागरिकाणामुत्कृष्टा विहारभूमि विलसति स्म एका पुष्पवाटिका ।

तस्या एकस्मिन् दिग्विभागे दोधूयमानोन्नतध्वजादण्डेन स्पर्धयदि-वान्तरिक्षम्, अत्यन्तचतुरकारुनिर्मिततया अवहेलयदिव विश्वकर्म-णोऽपि निर्माणम्, विचित्रमणिरत्नकुट्टिमतलधारितया प्रत्यक्षयदिव निर्जरगृहाजिरम्, सुलष्टघृष्टभित्तिचाकचिक्यैं स्मारयदिवाऽऽखण्डले-रादर्शभवनम्, पौरै परमश्रद्धालुतया प्रणिधेयम्, शुशुभे च सहस्रपल-प्रमितमुद्गरधरत्वेन "मुद्गरपाणि" इत्यभिधयाऽख्यातस्य यक्ष-स्यायतनम् ।

त प्रासादमलकुर्वाणा, विशिष्टकाष्ठघटिता परिहितचारुदुकूला अनर्घ्याभरणभारभूषिता स्फुरत्प्रभावितया महामहोभि प्रतिष्ठा प्रापिता, अनकैरैहिकसुखार्थिभिरर्चनीया, विविधदविष्टप्रदेशादागतै-र्यात्रिकवर्गैर्दर्शनीयमुखारविन्दा, पूर्णमनोरथैं सुकृतिभि परिवर्धित-भाण्डागारा विललास मुद्गरपाणेरप्रतिमशक्ते प्रतिमा ।

उवास तत्रैवैक उद्यानरक्षक, अनुकृतु फलवापकोविद, महीमुर्वरी-कर्तुं गोमयकारषादि-क्षोददानदक्ष[1] यथासमयनीरसेकनिपुण, वृक्ष-फलपुष्पाणामामयतत्त्ववेत्ता, वनस्पतीना सयोगकार्यपटु, नानाकारै-स्त्रिविधक्षुपकर्तनाभिज्ञ, विहगव्रातविहितोपद्रवनिवारणदत्तावधान, शशक-मृग-शृगालादीना मार्गनिरोधोद्यत, स्वकार्यनिरतो भद्रप्रकृ-तिरर्जुनाभिधो मालाकार ।

तस्यात्यन्तवल्लभा कदलीव कोमलाङ्गी, प्रसन्नवदना, चन्द्रलेखे-वाऽनलङ्कृतापि स्वभावत सौन्दर्ययुक्ता, अविज्ञातहावभावविलास-विभ्रमापि वाललीलेव मनोहारिणी, असज्जापि मदनतापतप्ताना यूना छायेवाऽभिप्रेया, वलाहकानुगा विद्युदिव पत्युर्वर्त्मानुवर्तिनी, सूचीव सरलप्रकृति, तारावलीव प्रकटाचरणा, घटिकेव सामयिककार्याऽनु-ल्लङ्घिनी बभौ बन्धुमतीनाम्नी भार्या ।

अर्जुनो बन्धुमत्या सार्धं प्रत्यह पुष्पवाटिकाया पुष्पाण्यवचिनोति स्म । ततोऽनेकपूर्वजपुरुषपरम्परापूजिता मुद्गरपाणियक्षस्य प्रतिमा

---

१ भरतस्य । २ समासेऽप्यय प्रकृतिभाव ।
३ क्षोद--"खाद" इति भाषायाम् ।

सुरभित पुष्पभक्तिपुरस्सर बहुविधमर्चति स्म। अनेकगौरवसूचक शब्दैरभिवादयति स्म । पुन परमहार्दिकश्रद्धया प्रणिदधाति स्म। तदनन्तर कानिचित्प्रकीर्णानि कतिचिच्चातुर्येण सदृब्धानि अपराणि स्तबकितानि अन्यानि च हारार्धहाररूपाणि प्रसूनानि नगरे गत्वा विक्रीणाति स्म । अनया रीत्या नैज गार्हस्थ्यजीवन निर्वाहयति स्म। सुखेन आयानुरूप व्ययमनुतिष्ठन् सर्वाण्यपि कार्याणि स्वतन्त्र साधयति स्म ।

अथ तस्मिन्नेव पत्तने ललिताह्वया गोष्ठीला कस्यचिन्महतो राजकार्यस्य सम्पादनेन राज्ञा नि यीकृता अभयत्वेनात्यन्तमनर्गलत्व माप्ता आढ्यकुलप्रसूतत्वेन विगतवाणिज्यादिचिन्ता नक्त दिवा स्वायत्त सम्भ्रम्यमाणा कषाया इव मूर्त्ता कलहा इव पिण्डीभूता अवयवा इव कलिकालवपुष दूता इवाऽधर्मराज विलासा इव निर्लज्ज ताया दासा इव दुव्यसनानाम कल्लोला इव कालुष्योदधे परिणामा इव दुष्प्रवृत्त अङ्कुरा इव भाव्युत्पाततरो कामं विजह्रिरे षड युवानो नरा । तैयत्र जिगमिषित तत्रव गतम्, यच्चिकीर्षित तदेव कृतम् यल्लिप्सित तदेव लब्धम् यज्जिघत्सित तदेवात्तम्, यत्पिपासित तदेव पीतम् यद्दिदृक्षित तदेव दृष्टम् यज्जिहीर्षित तदेव च हृतम्।

अहो[1] यौवनोन्माद नरमन्धयति बधिरयति वाचाढ़कोऽपि दविष्ठ यति न्याय्यात्पथ नेदिष्ठयत्यविवेकपद्धते द्राघयति दुर्मददानवीयवृत्ति म् ह्रसयत्यास्मतीतगुणग्रामम् । हन्त! हन्त!! तत्रापि चेद्व भवविपुलता तदा तु वीचिमालिनमपि चुलुकायते विपुलामपि वसुधा द्विपदायते अनन्तमपि वियत्करङ्कायते अल्पीयोऽपि जीवन पराद्र्धपरायते च नर । बत! बत! सधनयौवनवैपरीत्यम्—परामर्शपूव प्रवर्तिनि पुंसि शीतकत्वारोप गौरवार्हे गुरौ उपहासप्रवर्त्ति धार्मिके सुजने मिथ्याचार

---

१ अतिदूर करोतीति दविष्ठयति णिच् बहुल करणादिपु' इति सूत्रेण साधु।

२ नेदिष्ठमन्तिकतम करोतीति नदिष्ठयति।

३ वियत्—आकाशम्।

४ नालिकेरज करङ्क इति हैम टोपलीति भाषा।

५ पराद्धमेमिति सर्वोत्कृष्टा सख्या तनोऽप्यधिक मिवाचरतीति पराद्धम परायते।

ताऽभिव्यक्ति, सत्सङ्गमेऽपि व्यर्थसमयव्यय, राद्धान्तप्रत्ययेऽन्धश्रद्धालुतोक्ति, कौलेयककर्मे रूढिव्यपदेश, उचितोपदेशे कर्कशकुतर्कसपर्क, सुकृताय प्रेरिते खल्विद[1] मुक्त्वेति कथनम्। तत्रापि चेत्प्रभुत्वलेशावेशस्तदानी तु-वृश्चिकदष्टवानर इव, पीतमदिरोन्मत्तमतङ्गज इव, अथ करारूढकरभ इव, पीतसिकतोदकवातकीव, तत् किमस्ति भूवलये यन्न कर्तु स चेष्टेत ? पृथिव्यामपि पदमाधातु नेहेत नूनमविविक्तात्मा।

अहो ! तुच्छता हि प्रायेण भयङ्करी। बिन्दुमात्रविषविशिष्टो हि वृश्चिक पुच्छाच्छोटैर्जगद् भीषयते। किमुनान्तर्भीरुर्भषणो भषणेनैव भापयतेऽदण्डिन पान्थान् ? अपूर्णो हि कुम्भोऽम्भ प्रोच्छालयन किमुत न क्लेदयति वासासि निजानेतु ? शून्यप्राया हि शारदा स्तनयित्नव किमुत न बहु स्तनन्ति ?

विध्वसस्य प्रथमावस्था हि बुद्धिविपर्यय, अस्तमनाय प्रस्थितो हि प्रदीपोऽथवा बहु चमच्चरीकर्ति।

उत, परिपाककालो हि वस्तूनाममन्तिम क्षण, पतन्त्येव पत्राणि परिपक्वानि पृथिव्याम्, परिपक्वो हि व्रणश्छिद्यते विज्ञवैद्यै, भृतो हि कुम्भो निमज्जत्येवाम्भसि। सीमातिवर्त्तनमाहोस्विद् नहि चिर निषहते प्रकृति, तत्प्रतीकार स्वयमेव जाजायते जवेन। अस्तु, ते षडपि पूरुषा बहुभिरागसो नरान् पीडयामासु, अनेकान् निर्बलान् लुण्ठयामासु, बह्वीना कुलवधूटीना च धर्म ध्वसयामासु। अमीषामुपराग हृदा नागरिका जुगुप्समाना अपि नृपबहुमन्यता मन्यमाना सर्व तितिक्षाञ्चक्रिरे। प्रतीकारैरप्रतिकृता रोगपरम्परेव तेषामुद्दण्डता निर्भृ रमेधाञ्चक्रे। अहो ! युक्तियुक्तोक्तिर्नीतिज्ञानाम्—"अपराधाना मर्षणमप्यपराध, अन्यायकर्तृणामुपेक्षा ह्यन्यायपीडितेष्वत्याचार" खलु व्यक्तितन्त्रे राज्ये ईदृक्षा मन्तवो[2] भवन्त्येव प्रायश। प्रजातन्त्रे तु नेदृशानामागसा प्रायिकोऽवकाश। यद्यपि श्रेणिकेन महीक्षिता[3] "यत्किञ्चिदनुचितेऽपि समाचरितेऽदण्डनीया एते" इति नहि स्वात-

---

१ 'अलखल्वो प्रतिषेधे क्त्वा वा' इति सूत्रेण क्त्वा प्रत्यय। अल इति कथनेनेतिभाव।

२ अपराधा।

३ पार्थिवेन।

ऽयमदायि तथापि त स्वाऽऽहोपुरुषिकया गर्हितमनुष्ठितम् भृशमनधिकृत चेष्टित च ।

अथाऽन्यदा कुशशेयकोशे सह निद्रामुद्रितलोचनान जनान प्रबोधयन्निव जगद्व्याप्त तमो ज्योत्स्नाभि सह तिरोभावयन्निव मलिम्लुचाना साहस चक्रवाकाणा शोकेन सार्धमधरयन्निव गृहमणी नामालि निशारत्नेन साकमकिञ्चित्करपदवी प्रापयन्निव सदपि तारकचक्रवाल दिवा घवृन्दै सत्राऽऽश्रययन्निव यामिकान् कुमुदगणेनामा स्वापयन्निव निभय जीवलोक दिग्धप्राच्यामुदियाय दिवाकर ।

अहो चामीकरवर्णान् चरिष्णून् मरीचिमालिन सञ्चरत किरणान विलोक्य चोकूयमाना विहङ्गमा प्रडीनोड्डीनसण्डीनानि सोत्सव कर्तु लग्ना । निजनिजाङ्गानि प्रतस्थिरे पथिका । ध्यायन्ति केचिद् निजनिजेष्टदेवम् कुर्वन्ति जैनधर्म प्रतिलेखनादिकृत्यमावश्यक समाप्य । स्वीकुर्वन्ति श्रावका शुद्ध सामायिक सुसमाहिता । परावर्तयन्ति नमस्कारमहामन्त्रमाला कतिचन मौनावलम्बिनो जना । क्रीडन्ति मातु परितो दुग्ध याचमाना मुग्धा शिशव । रुदन्ति कतिचन स्तनन्धया जनन्याश्चीवरप्रान्तमादाय नामग्राह किमपि वस्तु मार्गयन्त । व्रजन्ति बाला विद्यालये पुस्तकानि कक्षीकृत्य सत्वरपादपातम्[1] । अन्तर्दधते केचिल्लीलालीनमानसा पाठशालागमनात् । जागरयति जननी कञ्चन दुग्धमुख मन्द बालक ' उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ जागृहि-जागृहि पश्य-पश्य भानुमास्तव शिरसि समागत इत्यादि सुधासोदरया वचनपरम्परया । परिमजन्त्यापणिकाश्च स्वीयान् स्वीयानापणान् ।

अहह ! एकोऽयमा कियन्ति कार्याणि साधयति ? कियतो जनान् मार्ग निर्दिशयति ? कियन्ति क्षत्रोद्यानानि च तापेन परिणर्धयति ? कियत पङ्किलान् पथ शुष्कीकुरुते ? चिन्तनीया रवे परोपकारपरायणता अतएव जगच्चक्षु जगद्बान्धव इत्याभिर्गीर्वाणविबुधैरभिधयैरभिधीयतेऽयम् ।

अर्जुनोऽप्यजु नवर्णमुदीयमानमरुण निध्यायेति दध्यौ— आ स्मृतम् अद्याम्नि वञ्चिदुत्सवमयो दिवसो नागराणाम् । हन्ताम

---

१ क्रियाविशेषणमिदम् ।

२ दृष्ट्वा ।

तरणि कास्कान् महोत्सगमयान् सद्यस्कान्' दिवसान् जगता पुरस्ता-दुपढौकयते। कीदृगा कीदृशा सुन्दरा अग्रसरा जनानामग्रतो निस्स-रन्ति सवितु साहाय्येन। परन्तु स्तोका एव जना समय सफलयितु-मलभविष्णव। नून समयमूल्य विदन्ति विद्वांस एव, मूर्खास्तु समय पूरयितु प्रारभन्ते काञ्चन निष्प्रयोजना क्रीडाम्। खलु मया-प्यद्य त्वरणीय, गमनीय क्षिप्रमेव पुष्पाण्यवचेतु पुष्पवाटिकायाम् भविष्यत्यन्यथा पृष्ठतोऽनेहा', पश्चात्तद्ग्रहणाय नहि किमपि कौशल वशीवृत्स्यते।" इति सचिन्त्य सत्वरमेव शौचस्नानादिक्रिया निर्वर्त्य सधर्मिण्या बन्धुमत्या सह उद्यानाभिमुख प्रतस्थे।

अद्य मम सुमनसा बहु विक्रयो भावीति कल्पयन् तत्कालमेवाऽऽज-गाम पुष्पारामे। किसलयकोमलाभ्या कराभ्या स्वशिर स्निग्धश्याम-लकुन्तलान् स्पर्धयतो मकरन्दमास्वादयतो मिलिन्दान् दूरयन्ती बन्धु-मती चातुर्येण कमलनालान्याकुञ्च्य' वशकरण्डके पुष्पाण्यवचेतु लग्ना। "स्वजन्मभूमि त्यागेऽपि इभ्यानामुत्तमाङ्गे पु लीलावतीना लसत्कण्ठपीठेषु च वत्स्यामो वयमित्यर्घोन्मिषितव्याजेन हसन्त्य इव कलिकास्ता शिरीष-सुकुमारकरस्पर्शेनावचितास्तया पुष्पावचायिन्या। मालिकोऽपि तदवचितानि प्रसूनानि तदेकवर्ण तया व्यनक्ति स्म। प्रलम्बितगुणाया सीविन्या विभिन्नवर्णानि पुष्पाण्यादाय माल्यरूपेण दाक्षिण्यतो गुम्फति स्म मङ् क्षु। पुन केषाञ्चित् केवलवर्णमनोहराणामसुगन्धिताना सुमनसा स्रज पृथगेव जग्रन्थ, केषाञ्चन गेन्दुकाकारेण गुच्छक विरचयाञ्च-कार, पुन कस्मिश्चिद् विशालामत्रे वस्त्र विस्तार्य सूक्ष्मसूत्रेण पुष्पाणा वृत्तानि समूत्र्य दक्षिणावर्त्तादिविविधचित्रविचित्रकरचित्रेण भङ्गिति विन्या-सयामास, कानिचित्तु प्रकीर्णान्येव मणीवकानि' दक्षतया ररक्ष स। इत्थ कार्यं समाप्य यक्षमर्चितु यावच्चैत्याभिमुख सपत्नीक प्रत्यावर्त्तितु लग्नोऽर्जुनस्तावत्ते षडपि पुरुषा सूर्यवृषभा इव स्वच्छन्दमटाट्या कुर्वाणा पिशाचा इवाट्टहास हसन्त, पिशाचकिन इव गर्हित चेष्टमाना, वात-किन इवानर्गल प्रलपन्त क्षणाद् धावमाना, क्षणात्परस्पर गले भुजा-

---

१ नवीनान्।

२ मृदुसनसिति सूत्रेण सेर्डी, तत्तोऽनेहा-समय।

३ मोटयित्वा। ४ पुष्पाणि

युग्ममादधाना आवर्त्तेनाकृष्टा पोता इव कालेनाकृष्टास्तत्रोद्याने यक्षमन्दिरपरिसर समाजग्मु ।

॥इति श्रीचन्दनमुनि विरचित आर्जुनमालाकारे गद्यकाव्ये
उद्यानागमन-सत्पत्नी-षट्पुरुष-सूर्योदयादि
वर्णनात्मको द्वितीय समुच्छ्वास ॥

तृतीयः समुच्छ्वासः

"जन किं नाऽनर्थं जनयति मदान्धो द्विप इव।"

—(सूक्तिमुक्तावलि)

इत प्रस्फुटत्सौरभसुमनोभिराशाप्रदेशान् सुरभयन्तम्, आमोदमुदितै शिलीमुखैर्मञ्जुगुञ्जारवव्याजेनोभयत स्तूयमानम्, मस्तकधृतकुसुमभृतभाजनया भार्ययाऽनुगम्यमानम् विचारमग्नया दृशा इतस्ततोऽनालोकमानम्, पिण्डीभूत सारल्यमिवाऽऽगच्छन्तमर्जुन निभाल्य षडपि ते मिथ इत्थ प्रलपितुमारेभिरे—

प्रथम —कोऽय कोऽयमागच्छति जडात्मा सम्मुखीनेन पथा?

द्वितीय —न वेत्सि किमु? 'धर्मपुत्रानुजोऽर्जुनोऽयमनङ्गधनुर्धर'[1]।

तृतीय —अहा! केयमस्यानुगामिनी विभ्रममन्दया गत्या पद विन्यस्यन्ती कामिनी?

चतुर्थ —अरे! न जानासि किमु? अस्य कृष्णावतारस्य कमनीया कान्ता।

पञ्चम —हन्त! मन्दमेधसा वेधसा कथमर्पिता किल काकाय कलहंसी?

षष्ठ —न पीता चेदस्या सुधामधरयन्त्यधरमाधुरी तर्हि मुधैव गमित तारुण्यम्।

---

१ व्यङ्ग्योक्तिरियं नामसाधर्म्यात्।

२ "अनङ्गधनुर्धर" इति पुष्प कामस्य धनुस्तद्धारक।

अन्तराल एव पर—अल विलम्बेन तर्हि करणीय त्वरयैव मनीषित कम ।

अपर कश्चित्—अस्त्यनया साधमस्या पति कथ क्रियते बलात्कार ?

विहस्येतर—भृश भीरुकोऽसि त्व तु शतशो भ्रमन्ति वराका एतादृशा ।

मुख विकृत्यापर—बुद्ध या कार्यमानयेम् यथा सर्पोऽपि म्रियते न त्रुटयति यष्टिरपि ।

शनै शनरपर—ब्रूहि, तर्हि कथकार सफला भवाम ?

सोत्प्रासमन्य—अल बहुशिरोधूननेन प्रतिपादयामि युक्तिमेकाम् ।

सहाट्टहास सर्वेऽपि—निवेदय निवेदय त्वमेव बुद्ध याऽभयकुमारोऽसि ।

शृण्वन्तु तर्हि—पूर्वमेव वय यक्षालयमध्यास्महे कपाटयो पृष्टतोऽन्तदध्महे श्वासकासादिवेगमप्यनाविर्भावयन्तस्त च प्रतीक्षामहे यदाऽसा वर्जुन प्रतिमाया पुरस्तात् सहष भूमिचम्बि प्रणाम विदध्यात्, शकुन्तेयेना इव तत्कालमतर्कितास्तस्योपरि निपताम पुन सुदृढ तस्य करौ चरणौ च गृहीत्वा पृष्टतो बध्नाम त च तदवस्थ तत्रैव मुक्त्वा वाञ्छित साधयामो नि सङ्कोचतया कि करणीयमेकाकिनाऽनेन ?

करतल स्फोटयन्त सर्वेऽपि—धन्योऽसि शतकृत्वो मित्र ? कीदृशी सरला सरणिस्त्वया निर्दशिता कुशाग्रधिया तु शेषमपि ह्रपयसि[1] । अहह ! पारितोषिकयोग्योऽसि सहस्राक्ष पम योन्यमट्टहास कतु लग्ना ।

अन्यतम—आगतोऽय बलीवद समीपमेव न खलु श यान् लम्बो विलम्ब इतरथाऽय सौवर्णिकोऽवसर करादपसरिष्यति । इत्याकर्ण्य सर्वेऽपि व्रजन्तु-व्रजन्तु वेगेनेति जल्पमाना कस्मिश्चित् स्थले निधि शङ्कया कृपणा इव एकैकस्मादग्रतो धाव तोऽभीका यक्षभवनमा भेजु अररियुग्म[4]मग्रत कृत्वा स्वसत्तामदशयन्तो मूषिक निगृहीतुमनसो मार्जारा इव नीरवतया च तस्थिवास ।

---

१ लज्जयसे । २ गर्हित निगदन्त ।
३ कामुका । ४ कपाटयुगलम ।

धिक्! कामुकाना साहसिकी प्रवृत्तिम। गर्हणीया तेषा निर्ह्रीकता निस्त्रिंशमपि न्यक्करोति तेषा नृशसता। कज्जलमप्युज्ज्वलयति तेषा कालुष्यमयी मानसी प्रवृत्ति। दाववह्निं रवि शैत्यमुद्भावयति जाज्वल्यमाना कमनज्वरज्वाला। तालपुटमपि विघटयतिस्मर्यमाणैव वर्धिष्णु-विषमा विषमायुधविषलहरी। तामस क्षुरप्र वह्न्यादिबाणानप्यवगणयति कदर्पस्य कोमला अपि पञ्च बाणा। स्खलन्ति ह्यत्रागच्छन्तो दिग्विजयिनो विदुषा वरेण्या अपि। पतन्त्यत्रागच्छन्त पुरन्दरपूजनीया अपि परमर्षय। सीदन्ति सीमन्तिनीना पुरत जगज्जिष्णवोऽपि जना। हा! किमिदममृतायमान विष स्रष्ट विधिना? यस्मिन् बद्धा अपि सुखमामनन्ति कोऽय विचित्र पाश? यस्मिन् मग्ना अपि चाभग्नाशया कोऽय नव्यो निषद्वर[1]? आर्द्रकुमारोऽपि ह्यत्रागच्छन् निद्रितो बभूव। पपात नन्दीषेणोऽप्यस्मिन्नुदपाने[2]। आगत आषाढोऽप्यस्या राक्षस्या दाढायाम्। अन्यमत्तावलम्बिना देवा हरिहरादयोऽपि क्षीणा हरिणाक्षीणा पुरत। बिडौजा अपि विडम्बितोऽनेन सुमेषुणा। अहो! कियद् वर्णयामि? के केऽनर्था न जज्ञिरे कामिनीना कृते? कास्कान् महाहवान्नाऽजूहव[3]न्नितम्बिनीना लिप्सा? के के विक्रान्ता युयुत्सवो नहि पञ्चत्वमाप्ता लीलवतीना लाम्पट्यमुद्वहन्त? के के यशस्विनो नहि तिरस्कारपात्राण्यभूवन् नशापारवश्यमासादयन्त? कि बहुना? त्रिलोकीमपीय कोकिलकण्ठी सशोकीचकार। उत, यया सवर्त्तवात्यया पर्वता अपि चकम्पिरे तत्राऽतरुणपत्राणा पतने का नाम शङ्का? यस्मिन् दावानले महारण्यमपि भस्मसाज्जात तत्र तूलव्रातानां[4] का नाम यतना? येन मधुसारथिना[5] महान्तोऽपि कदर्थितास्तत्राऽमीषा पण्णाकामकीटाना का नाम गणना?

धन्यास्त एव द्वित्रा महामनसो जम्बूस्थूलभद्राद्या यैस्त्रिभुवनविजिगीषतो[6] महौजसो मकरध्वजसम्राजो ध्वजिनी जवेन विनिर्जिता ब्रह्मचर्यासिना पशुमार मारिता च।

इतो मुद्गरपाणे प्रासादमागत्य यावदर्जुन पुष्पाण्युपढौकमान प्रणाम प्रतिमा निराकुलतया, तावदमी षडपि दुर्ललिता ललिता[7] निगृ-

---

१ कर्दम।
२ कूपे।
३ आह्वान दत्तवान्।
४ तूलम, रूई, इति भाषा।
५ मन्मथेन।
६ जेतुमिच्छत।
७ इत्येषा सज्ञा

भूयया भुन्गरविभीषिकया । ज्ञात तवाद्य देवसायुज्यम्[1] । गत तवाद्य प्रभाववैभवम् । च्युत तवाद्य चमत्कारचातुर्यम् । विदित तवाद्य वास्तविक रूपम् । पतितस्तवाद्य प्रत्यय समेषा हृदयस्थलात् । अत ऊर्ध्व न केऽपि त्वा पूज्यदृशा प्रेक्षिष्यन्ते नोपढौकिष्यन्ते च किमपि वरमुपहरणीय वस्तु तवाग्रत । प्रत्युत शून्य तव धामोपस्थास्यन्ते शीतलादानानि[2] यामिन्याम । भरववाहनाना[3] प्रभवणेन सबल स्पर्ति तव सुतरा स्नानम् । स्नाप्यन्ते त्वा कपानसंपाता दिवानिशम । भविष्यन्ति तव चाभिषेक शकुन्तगोत्राना विष्ठाभि । शुश्रूषयिष्यते ते पश्मिका मूकाना नि शूकैर्नाम । सम्पत्स्यते चात्र प्रकाशो निशाया सञ्चरता फणिना मणिभि । इत्य विकल्पाना चक्र भ्रामयत सहायतापराङ्मुखत्वेन भक्त प्रति भ्रशमुपालभमानस्य कोपावेश परवशत्वेनाप्यक्र छपमानस्य तस्य वपुषि कम्पमानासनो विदित समस्तदु खम्वृत्तान्तो भक्तसेवाहेवाकाकृष्टान्त करणश्चञ्चच्चमत्कार दशनदक्षो यक्षो झिगिति प्राविक्षत् शक्तिरूपेण । तत्कालमेव तस्य विग्रहे निग्रहक्षमा हस्तिना स्थामापि परास्नयन्ती शिलोच्चयमपि चूर्णयिनु प्रभूष्णु शक्ति प्रादुर्बभूव । अपि त्यो हि सुपर्वणा प्रभाव । कमलनालानीव अपरिपक्वसूत्राणीव स तानि बन्धनानि क्षिप्रमना यास त्रोटयामास । तदैव सहस्रपलभारभारिण मुद्गर दक्षिणाशेषि तेव दण्ड समुत्पाटय क्रोधाध्मातलोचनो वदनादित्थमाज्ञ ड्यम् दधावे — भो ! भो ! पापीयसा पुरोगा ! दुराचारिणो दुष्टा ! स्थीयताम स्थीयताम् मनिधत्त अधुनैव कार्मुकहृतकान कृतान्त । निलज्जा ! बल त्कारमाचरता शुनोऽप्यतिरिच्यते युष्माक दुश्चरित्रम् । कामान्धा ! सवत्र वाच्यमुद्भावितम् । जात जाता खलु प्रविविक्षया युष्माक दु साध्योपतापस्य । गत-गत युष्माक सापराध जीवनम् । पतित-पतिता बत पतनो मुखा प्राणा प्रयाणप्रियाणाम् ।

तैर्विपर्यविह्वलैर्यावद् विलोकितमेव नहि तावदपतद् दुष्प्र्व्याकृति रजु तो मुद्गरमुद्यम्य[6] षण्णामुपरि । पूर्वमेवो चण्डक्रोधचण्डिम्ना द्विगुणितौजा पुन आवेशविशेषित इयद् दृढ मुद्गरेण प्राहार्षीद्, मृन्म यभाण्डानीव तेषा षण्णामपि च मस्तकानि सशब्दमभाङ्क्षीत् । गाढ वैषयिकरक्तिमान व्यञ्जयन्तीव तदीयमुखेभ्यो नि सता कदुष्ण

---

१ देवत्वम । २ मदंशा । ३ श्वानानाम् ।
४ चन्दनादिना पुष्पाञ्जिक्षेपणम् । ५ स्नानमपि ६ उत्थाप्य ।

तरणि कास्कान् महोत्सवमयान् सद्यस्कान्[1] दिवसान् जगता पुरस्ता-दुपढौकयते। कीदृशा कीदृशा सुन्दरा अवसरा जनानामग्रतो निस्सरन्ति सवितु साहाय्येन। परन्तु स्तोका एव जना समय सफलयितु-मलमविष्णव। नून समयमूल्य विदन्ति विद्वांस एव, मूर्खास्तु समय पूरयितु प्रारभन्ते काञ्चन निष्प्रयोजना क्रीडाम्। खलु मया-प्यद्य त्वरणीय, गमनीय क्षिप्रमेव पुष्पाण्यवचेतु पुष्पवाटिकायाम् भविष्यत्यन्यथा पृष्ठतोऽनेहा[2], पश्चात्तद्ग्रहणाय नहि किमपि कौशल वरीवृत्यते।" इति सचिन्त्य सत्वरमेव शौचस्नानादिक्रिया निर्वर्त्य सधर्मिण्या बन्धुमत्या सह उद्यानाभिमुख प्रतस्थे।

अद्य मम सुमनसा बहु विक्रयो भावीति कल्पयन् तत्कालमेवाऽऽजगाम पुष्पारामे। किसलयकोमलाभ्या कराभ्या स्वशिर स्निग्धश्यामलकुन्तलान् स्पर्धयतो मकरन्दमास्वादयतो मिलिन्दान् दूरयन्ती बन्धूमती चातुर्येण कमलनालान्याकुञ्च्य[3] वशकरण्डके पुष्पाण्यवचेतु लग्ना। "स्वजन्मभूमि त्यागेऽपि इभ्यानामुत्तमाङ्गेषु लीलावतीना ललकण्ठपीठेषु च वत्स्यामो वयमित्यधोन्मिषितव्याजेन हसन्त्य इव कलिकास्ता शिरीष-सुकुमारकरस्पर्शेनावचितास्तया पुष्पावचायिन्या। मालिकोऽपि तदवचितानि प्रसूनानि तदैकवर्ण तया व्यनक्ति स्म। प्रलम्बितगुणया सीविन्या विभिन्नवर्णानि पुष्पाण्यादाय माल्यरूपेण दाक्षिण्यतो गुम्फति स्म मङ्क्षु। पुन केषाञ्चित् केवलवर्णमनोहराणामसुगन्धितानां सुमनसा स्रज पृथगेव जग्रन्थ, केषाञ्चन गेन्दुकाकारेण गुच्छक विरचयाञ्चकार, पुन कस्मिंश्चिद् विशालामत्रे वस्त्र विस्तार्य सूक्ष्मसूत्रेण पुष्पाणा वृत्तानि ससूत्र्य [illegible] चित्रकरचित्रेण झगिति विन्यासयामास, कानिचित्तु [illegible] मणीवकानि[4] दक्षतया ररक्ष स। [illegible]त्थ कार्यं समाप्य [illegible] [illegible]त्याभिमुख सपत्नीक प्रत्यावर्त्तितु [illegible]नोऽर्जुनस्तावत्ते षडपि [illegible]प्रभा इव स्वच्छन्दमटाट्या कुर्वाणा [illegible] इवाट्टहास हस [illegible]किन इव गर्हित चेष्टमाना, वात-[illegible]र्गल प्रलपन्त [illegible]माना, क्षणात्परस्पर गले भुजा-

[2]नेहा-समय।

ऋमदामि तथापि त स्वाऽऽहापुरुषिकया गर्हितमनुष्ठितम् भृशमनधिकृत चेष्टित च ।

अथाऽन्यदा कुशशेयकोश सह निद्रामुद्रितलोचनान् जनान प्रबोधयन्निा जगद्व्याप्त तमो ज्योत्स्नाभि सह तिरोभावयन्निा मलिम्लुचाना साहस चक्रवाकाणा शोकेन सार्धमधरयन्निव गृहमणी नामर्ानि निशारत्नेन साकमकिञ्चित्करपदवी प्रापयन्निव सदपि तारकचक्रवाल दिवा धवृन्द सत्राऽदृश्ययन्निव यामिकान् कुमुदानेनामा स्वापयन्निव निभय जीवलोक विदधत्प्राच्यामुदियाय दिवाकर ।

अहो चामीकरवर्णान् चरिष्णून् मरीचिमालिन सञ्चरत किरणान् विलोक्य चोकूयमाना विहङ्गमा प्रडीनोड्डीनसण्डीनानि सोत्सव कर्तु लग्ना । निजनिजाध्वनि प्रतस्थिरे पथिका । ध्यायन्ति केचिद् निजनिजेष्टदोम् कुर्वन्ति जनर्यय प्रतिलेखनादिकृत्यमाावश्यक समाप्य । स्वीकुर्वन्ति श्राावका शुद्ध सामायिक सुसमाहिता । परावर्तयन्ति नमस्कारमहामन्त्रमााता कतिचन मौनावलम्बिनो जना । क्रीडन्ति मातु परितो दुग्ध याचमाना मुग्धा शिशा । रुदन्ति कतिचन स्तनधया जनन्याश्चीवरप्रान्तमादाय नामग्राह किमपि वस्तु मागयन्त । व्रजन्ति बाला विद्यालये पुस्तकानि कक्षीकृत्य सत्वरपादपातम् । अन्तर्दधते केचिल्लीलालीनमानसा पाठशालागमनात् । जागरयति जननी कञ्चन दुग्धमुख मन्द बालक उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ जागहि-जागहि पश्य-पश्य भानुमास्तव शिरसि समागत इत्यादि सुधासोदरया वचनपरम्परया । परिमजन्त्यापणिकाश्च स्वीयान् स्वीयानापणान ।

अहह[1] एकोऽयमा कियन्ति कार्याणि साधयति ? कियतो जनान् मार्ग निर्देशयति ? कियन्ति क्षत्रोद्यानानि च तापेन परिाधयति ? कियत पङ्किलान् पथ शुष्कीकुरुते ? चित्रणीया रवे परोपकारपरायणता अतएव जगच्चक्षु जगद्बान्धव इत्यादिभिर्गौरवान्वितैरभिधयरभिधीयतेऽयम् ।

अर्जुनोऽप्यर्जुनवर्णमुदीयमानमरुण निध्यायेति दध्यौ— आ स्मृतम् अद्यास्मि[2] कश्चिदुत्सवमयो दिवसो नागराणाम् । हन्ताय

१ क्रियाविशेषणमिदम् ।

२ इष्टव्य ।

धिक्! कामुकाना साहसिकी प्रवृत्तिम्। गर्हणीया तेषा निर्ह्रीकता निस्त्रिंशमपि न्यक्करोति तेषा नृशसता। कज्जलमप्युज्ज्वलयति तेषा कालुष्यमयी मानसी प्रवृत्ति। दाववह्नेरपि शैत्यमुद्भावयति जाज्वल्यमाना कमनज्वरज्वाला। तालपुटमपि विघटयतिस्मर्यमाणैव वर्धिष्णु-विषमा विषमायुधविषलहरी। तामस क्षुरप्र वह्न्यादिबाणानप्यवगणयति कदर्पस्य कोमला अपि पञ्च बाणा। स्खलन्ति ह्यागच्छन्तो दिग्विजयिनो विदुषा वरेण्या अपि। पतन्त्यत्रागच्छन्त पुरन्दरपूजनीया अपि परमर्षय। सीदन्ति सीमन्तिनीना पुरत जगज्जिष्णवोऽपि जना। हा! किमिदममृतायमान विष स्रष्ट विधिना? यस्मिन् बद्धा अपि सुखमामनन्ति कोऽय विचित्र पाश? यस्मिन् मग्ना अपि चाभग्नाशया कोऽय नव्यो निपद्वर'? आर्द्रकुमारोऽपि ह्यत्रागच्छन् निद्रितो बभूव। पपात नन्दीषेणोऽप्यस्मिन्नुदपाने'। आगत आषाढोऽप्यस्या राक्षस्या दाढायाम्। अन्यमतावलम्बिना देवा हरिहरादयोऽपि क्षीणा हरिणाक्षीणा पुरत। बिडौजा अपि विडम्बितोऽनेन सुमेषुणा। अहो! कियद् वर्णयामि? के केऽनर्था न जज्ञिरे कामिनीना कृते? कास्कान् महाहवानाऽजूहव'न्नितम्बिनीना लिप्सा? के के विक्रान्ता युयुत्सवो नहि पञ्चत्वमाप्ता लीलवतीना लाम्पट्यमुद्वहन्त? के के यशस्विनो नहि तिरस्कारपात्राण्यभूवन् गशापारवश्यमासादयन्त? किं बहुना? त्रिलोकीमपीय कोकिलकण्ठी सशोकीचकार। उत, यया सवर्त्तवातयया पर्वता अपि चकम्पिरे तत्राऽतसणपत्राणा पतने का नाम शङ्का? यस्मिन् दावानले महारण्यमपि भस्मसाज्जात तत्र तूलव्रातानां' का नाम यतना? येन मधुसारथिना' महान्तोऽपि कदर्थितास्तत्राऽमीषा पण्ण-कामकीटाना का नाम गणना?

धन्यास्त एव द्वित्रा महामनसो जम्बूस्थूलभद्राद्या यैस्त्रिभवन विजिगीषतो' महौजसो मकरध्वजसम्राजो ध्वजिनी जवेन विनिर्जिता ब्रह्मचर्यासिना पशुमार मारिता च।

इतो मुद्गरपाणे प्रासादमागत्य यावदर्जुन पुष्पाण्युपढौकमान प्रणाम प्रतिमा निराकुलतया, तावदमी षडपि दुर्ललिता ललिता' निगृ-

---

१ कर्दम। २ कूपे।
३ आह्वान दत्तवान्। ४ तूलम, रूई, इति भाषा।
५ मन्मथेन। ६ जेतुमिच्छत।
७ इत्येवर सज्ञा

अन्तराल एव पर—अलं विलम्बेन तर्हि करणीयं त्वरयत मनीषितं कर्म ।

अपरः कश्चित्—अस्त्यनया साधमस्याः पतिः कथं क्रियतां बलात्कारः ?

विहस्येतर—भृशं भीरुकोऽसि त्वं तु शतशो भ्रमन्ति वराका एतादृशाः ।

मुखं विकृत्यापर —वृद्ध या कार्यमानयेम् यथा सर्पोऽपि म्रियते न त्रुट्यति यष्टिरपि ।

शनैः शनैरपर—अ हि तर्हि कथंकारं सफला भवाम ?

सोत्प्रासमन्य—अलं बहुशिरोधूननेन प्रतिपादयामि युक्तिमेकाम् ।

सहाट्टहासं सर्वेऽपि—निवेदय निवेदय त्वमेव बुद्धयाऽभयकुमारोऽसि ।

शृण्वन्तु तर्हि—पूर्वमेव वयं यक्षालयमध्यास्महे कपाटयोः पृष्टतोऽन्तर्दध्महे श्वासकासादिवेगमप्यनाविर्भावयन्तस्तं च प्रतीक्षामहे यदाऽसौ वधुं न प्रतिमायाः पुरस्तात् सहर्षं भूमिचुम्बि प्रणामं विदध्यात् शकुन्ते श्येना इव तत्कालमतर्कितास्तस्योपरि निपताम पुनः सुदृढं तस्य करौ चरणौ च गृहीत्वा पृष्टतो बध्नामः तं च तदवस्थं तत्रैव मुक्त्वा वाञ्छितं साधयामो निःसङ्कोचतया किं करणीयमेकाकिनाऽनेन ?

करतलं स्फोटयन्तः सर्वेऽपि—धन्योऽसि शतक्रत्वो मित्र ? कीदृशी सरला सरणिस्त्वया निर्दिशिता कुशाग्रधिया तु शेषमपि हृ पयसि । अहह ! पारितोषिकयोग्योऽसि सहस्ताक्षपमन्यो यमट्टहासं कर्तुं लग्नाः ।

अन्यतम —आगतोऽयं बलीवर्दः समीपमेव न खलु श्रेयान् लम्बो विलम्ब इतरथाऽयं सौवर्णिकोऽवसरः करादपसरिष्यति । इत्याकर्ण्य सर्वेऽपि व्रजन्तु-व्रजन्तु वेगेनेति जल्पन्तो जल्पन्तो यस्मिंश्चित् स्थले निधिशङ्कया कृपणा इव एकस्मादग्रतो धावन्तोऽभीका यक्षभवनमाभेजु अररियुग्मंमग्रतः कृत्वा स्वसत्तामदर्शयन्तो मूषिकं निगृहीतुमनसो मार्जारा इव नीरवतया च तस्थिवांसः ।

---

१ लज्जयसे । २ गर्हित निगदन्तः ।
३ कामुका । ४ कपाटयुगलम् ।

धिक्! कामुकाना साहसिकी प्रवृत्तिम्। गर्हणीया तेषा निर्ह्रीकता निस्त्रिंशमपि न्यक्करोति तेषा नृशसता। कज्जलमप्युज्ज्वलयति तेषा कालुष्यमयी मानसी प्रवृत्ति। दाववह्नेरपि शैत्यमुद्भावयति जाज्वल्यमाना कमनज्वरज्वाला। तालपुटमपि विघटयतिस्मयमाणैव वर्धिष्णु-विषमा विषमायुधविषलहरी। तामस क्षुरप्र वल्लयादिवाणानप्यवगणयति कन्दर्पस्य कोमला अपि पञ्च बाणा। स्खलन्ति ह्यत्रागच्छन्तो दिग्विजयिनो विदुषा वरेण्या अपि। पतन्त्यत्रागच्छन्त पुरन्दरपूजनीया अपि परमर्षय। सीदन्ति सीमन्तिनीना पुरत जगज्जिष्णवोऽपि जना।
हा! किमिदममृतायमान विष सृष्ट विधिना? यस्मिन् बद्धा अपि सुखमामनन्ति कोऽय विचित्र पाश? यस्मिन् मग्ना अपि चाभग्नाशया कोऽय नव्यो निपद्वर[1]? आर्द्रकुमारोऽपि ह्यत्रागच्छन् निद्रितो बभूव। पपात नन्दीषेणोऽप्यस्मिन्नुदपाने[2]। आगत आषाढोऽप्यस्या राक्षस्या दाढायाम्। अन्यमतावलम्बिनो देवा हरिहरादयोऽपि ह्रीणा हरिणाक्षीणा पुरत। विडौजा अपि विडम्बितोऽनेन सुमेषुणा। अहो! कियद् वर्णयामि? के केऽनर्था न जज्ञिरे कामिनीना कृते? कास्कान् महाहवानाञ्जूहव[3]न्नितम्बिनीना लिप्सा? के के विक्रान्ता युयुत्सवो नहि पञ्चत्वमाप्ता लीलवतीना लाम्पट्यमुद्वहन्त? के के यशस्विनो नहि तिरस्कारपात्राण्यभूवन् नशापारवश्यमासादयन्त? किं बहुना? त्रिलोकीमपीय कोकिलकण्ठी सशोकीचकार। उत, यया सवर्त्तवात्यया पर्वता अपि चकम्पिरे तत्राऽत्तरुणपत्राणा पतने का नाम शङ्का? यस्मिन् दावानले महारण्यमपि भस्मसाज्जात तत्र तूलव्रातानां[4] का नाम यतना? येन मधुसारथिना[5] महान्तोऽपि कदर्थितास्तत्राऽमीषा पण्णाकामकीटाना का नाम गणना?

धन्यास्त एव द्वित्रा महामनसो जम्बूस्थूलभद्राद्या यैस्त्रिभुवन विजिगीषतो[6] महौजसो मकरध्वजसम्राजो ध्वजिनी जवेन विनिर्जिता ब्रह्मचर्यासिना पशुमार मारिता च।

इतो मुद्गरपाणे प्रासादमागत्य यावदर्जुन पुष्पाण्युपढौकमान प्रणाम प्रतिमा निराकुलतया, तावदमी षडपि दुर्ललिता ललिता[7] निगृ-

---

१ कर्दम।
२ कूपे।
३ आह्वान दत्तवान्
४ तूलम्, रूई, इति भाषा।
५ मन्मथेन।
६ जेतुमिच्छत।
७ इत्येषा सज्ञा

ह्यता निगह्यतामय दुरात्मेति तारस्वरेण कथयन्त' बिद्यस्प्रपात पतिता । क्षणिरयेव कैनचित्तस्य दृढ दक्षिण करो जगृहे केनचित्पा पीयसा वामपाणिर्मोटयताऽऽदद्दे अन्योऽपस्य य पादमाचकर्ष अपरश्च सव्यम् द्वाभ्यामपराभ्या च निगडसहोदरया रज्ज्वा पृष्ठतो मत्स्यबन्ध बद्धोऽसौ मालिक । अर्जुनेन तु वित्तमपि' नहि किं वृत्तमिदम् स्तब्ध इव सजात क्षणमेकम् । वक्तुमपि न पारित तेन किमपि । इत्थ त स दानित' तत्र य मुक्त्वा सहसव कामान्धा अन्तर्मन्दिर प्रविशन्ती बन्धु मती निस्त्रपतया जल्पयितुमारभन्त— अहह ! आयाहि-आयाहि लाव ण्यलीलालहरि ! प्राणप्रिये ! पूरय-पूरय मनोरथानस्माकम् । भागिरथि ! पवित्रय कन्दर्पपङ्कपङ्किलानस्मादृशान पापान् । यौवनघनपटलि ! सिञ्चय द्रुतमस्मान् मारनिदाघमारितान् पान्थान् । सुभ्रू ! किंमुधव भ्रामयसि कामकातरानमून । मोहनवल्लि ! कथ न परिष्वजसि हरित भरितान् वक्षान् ? वसुधावतरिते सुधे ! कथं न जीवयसि इमान् चतन्यशून्यान् जन्तून ?

इत्थमनर्गलानि विषयविपाक्तानि वाक्यानि मुखादुदीरयन्तो मृत्युना सह ता परिरब्धु बद्धोद्यमा बभूवु ।

श्येनेनाक्रान्ता चिल्लीव हर्यक्षनिरीक्षिता च हरिणीवाभूद् वेपमा ना बन्धुमती किंकर्तव्यविमूढा । शुष्कतालुजिह्वोष्ठाया इतस्तत किम पि शरणमविलोकमानाया अक्षिपुर. परिस्फुरद् विविधवर्णान्धतमसाया ववर्ष्यंमाविरभूत्तस्या वदनारविन्दे । अयिप्राणेश ! त्रायस्व-त्रायस्व मामबलाम् । धावस्व धावस्व वेगेन पतिदेव ! अमीभिधर्मध्वसिभिरहमा क्रम्ये' भग्नस्वरेणत्यमाक्र न्दयन्ती ता ते षडपि दुराचारा धरणौ निपात्य बलात्कर्त्तु लग्ना ।

यदाप्रतिमाप्रत पतितेन पृष्ठतो बद्ध न मालाकारेण प्रस्तरमपि द्रवीकुर्वद्दैन्यपरिपूर्ण 'परिदेवनमथाकि प्राणप्रिया व्यलोकि च कृतस्नापि दुरात्मभि' म्रियमाणा कान्ताया कदर्थना । तत्कालमेव तस्य कम्पमानाधरस्य घटिता ललाटपट्टे त्रिवली सञ्जातोपाकालिक प्राचीरागमनुहरन्ती शोणशोणायिता चाम्बकयुगली' । धामयामि पातयामि मारयामि हन्मि व्यापादयामि अमून् दुष्टान् पापान दुराचा रान् नीचान् क्षणेनैव । इत्थ मानसमावेगमाभेजानो जाज्वल्यमानश्च त्

---

१ ज्ञातमपि २ निगडितम् ३ अ. धीवरा तत्र मत्स्यो बीर्थं
४ वासिमा ५ रोदनम् ६ नेत्रयुगलम्

कृशानुना प्रवृद्धपराक्रम पुष्पलावो[१] बन्धनानि त्रोटयितु भृश प्रायतिष्ट, समस्तशरीरशौर्येण च कर-चरणादीनूर्ध्वाऽध सञ्चालयितुमत्यर्थम-चेष्टिष्ट, किन्तु निकाचितानि कर्मबन्धनान्यभुक्त्वैव जन्तुरिव तानि नहि द्विधाकर्त्तु शशाक । हन्त ! स्वकान्तातिरस्कारो नहि सोढु शक्यते तिरश्चापि, किं नाम पाणिपादवता विवेकिना नरेण ?

पञ्जरावरुद्ध-पञ्चाननस्येव आलाननियन्त्रितस्तम्बेरमस्येव नद्धा-र्जुनस्य सर्वेऽपि शारीरिका प्रयत्ना मोघमार्गमङ्गीचक्रु[२] । धगधगि-तिकुर्वद्वपुस्तातप्यमान-स्तत्रै व पतित इत्थ विकल्पयितु लग्न — "हा ! हन्त ! ! किं जातमद्य ? कोऽय दरिद्रो द्वादशात्मा[३] दत्तदर्शन ? कोऽय दुर्दशादर्शको दिवस ? केय प्रलयपरिप्लुता वेला ? केय विघटना घटयन्ती घटिका ? कोऽप्यऽपरोऽत्र नाऽपि[४] नास्ति यस्याग्रत पूत्कुर्वे । बत ! बत ! मया वृथैव पर्युपासिता मुद्गरपाणे प्रतिमा । हन्त ! हन्त ! मया फल्गु हि कृत पुष्पोपढौकनम् । अरेरे ! वन्ध्यैव कृता चन्दनादिद्रव्यैरर्चना । अहह ! मुधैव विहित मस्तकचर्पण-मग्रतोऽस्या । अद्य मम सर्वमपि भस्मनिहुतम्, प्रवाहेमूत्रितम् अरण्येरुदित चाऽभूत् । शक्तिशून्ये प्रतिमे ! किं विलोकस नेत्रे-विस्फार्य भक्तकदर्थनाम् ? जडात्मिके ! न त्रपसे किमुत स्वमस्तित्वमाविर्भाव-यन्ती ? शून्यचैतन्ये ! भक्तस्य दुर्दशा कोऽपि शक्तिमान् नेक्षितुमलम्, त्व न कथ म्रियसे द्विचलुकमिते जले निमज्जन्ती पुरतो भवन्ती दुर्घटनामविघटयन्ती ? वृथैव त्वा स्तुवन्ति विस्तरितै स्तवन-विन्यासैर्जना । अहो ! अन्धाना पृष्टतोऽन्धा जङ्गम्यन्ते । धिङ् मम पूर्वजपुरुषाणामविवेकातिरेकताम्, ये ईदृशी गर्हणीयामर्हणामयी कुलपरम्परा सञ्चालयामासु । दारुमयि ! कथ मन्दिरमध्यमध्या-सीना मूढान् धर्माऽन्ध्यावयसे ? किमुत ज्वलज्जलनज्वालाया पतिंवरा पाकाय भस्मसान्न भवसि ? पतितसत्त्वे ! शक्तिविरक्तया तवानया स्थायिकयाऽलमलम् । निष्क्रिये ! किमन्तर्गण्डु[५] गौरवमावहसि चेदव-सरेऽपि न कार्यं सिषाधयिषसि ? किं तेन जवनेनाश्वेन यो न दशशी र्षावसानमहोत्सवेऽपि धावति ? भवतु तया पीनोध्न्या धेन्वा या न जातुचिदपि क्षरति क्षीरम् । कृत तेन धन्वन्तरिणा भिषग्वरेण यो गदप्रतीकारसमयेऽपि प्रमाद्यति । मुद्गरधारिणि ! अस्तु तवात्र

१ मालिक २ वैफल्यमापु ३ सूर्य
४ नरोऽपि ५ निरर्थकम् ।

ह्यतां निगृह्यतामयं दुरात्मेति तारस्वरेण चयन्त विधु्रपात पतिता । भणित्यैव धनचित्तस्य हृढ दक्षिण करो जगृहे मैनचित्या पीयसा वामपाणिर्मोटयताऽन्द भयो पम य पादमाचक्य मपरश्च सव्यम्, द्वाभ्यामपराभ्यां च निगडमहोन्रसा रज्वा पृष्ठनो मत्स्यबन्ध बद्धोऽसौ मालिक । अजुनेन तु विस्तमपि[1] नहि किं वृत्तमिदम् स्तब्ध इव सजात क्षणमात्रम् । वक्तुमपि न पारित तेन किमपि । इत्थं त सन्दानित तत्र च मुक्त्वा महसव यामान्धा यन्त्रमन्दिर प्रविशन्ती बन्धुमती निस्त्रपतया जल्पयितुमारभन्त— अहह ! आयाहि आयाहि लावण्यलीनान्तहरि ! प्राणप्रिय ! पूरय-पूरय मनोरथानस्माकम् । भागिरथि ! पवित्रय कन्दर्पपङ्कपङ्किलानस्मादृशान पापान् । यौवनघनपटलि ! सिञ्चय द्रुतमस्मान् मारनिदाघमारितान् पान्थान् । मुग्ध ! किं नृथैव भ्रामयसि कामातुरानमून । मोहनवल्लि ! कथं न परिष्वजसि हरित भरितान वृक्षान् ? वसुधावतरित सुधे ! कथं न जीवयसि इमान चैतन्यशून्यान् जन्तून् ?

इत्थमनर्गलानि विषमविषाक्तानि वाक्यानि मुखादुदीरयन्तो मृत्युना सह तां परिरब्धु बद्धोद्यमा बभूवुः ।

श्येनैराक्रान्ता चिल्लीव हयक्षैर्निरीक्षिता च हरिणीवाभूद् वेपमाना बन्धुमती विवर्तयविमूढा । शुष्कतालुजिह्वोष्ठाया इतस्ततः किमपि शरणमविलोकमानाया अक्षिपुरं परिस्फुरद् विविधवर्णा धृतमसाया वैवर्ण्यमाविरभूत्तस्या वदनारविन्दे । अयि प्राणेश ! त्रायस्व त्रायस्व मामबलाम् । धावस्व धावस्व वेगेन पतिदेव ! अमीभिर्धर्मध्वंसिभिरहमाक्रम्ये भग्नस्वरेणेत्यमाक्रन्दयन्तीं तां ते षडपि दुराचारा धरणौ निपात्य बलात्पत्तं लग्नाः ।

यक्षप्रतिमाग्रत पतितेन पृष्ठतो नद्धेन मालाकारेण प्रस्तरमपि द्रवीकुर्वद्दैन्यपरिपूर्ण परिदेवनमश्रावि प्राणशायाः व्यलोकि च कृत्स्नापि दुरात्मभि[2] म्रियमाणा कान्तायाः कदर्थना । तत्कालमेव तस्य कम्पमानाधरस्य घटिता ललाटपट्टे त्रिवली संजातोयाकालिकप्राचीरागमनुहरन्ती कोपकोषायिता चाम्बकयुगली[3] । घातयामि पातयामि मारयामि हन्मि व्यापादयामि अमून् दुष्टान् पापान् दुराचारान् नीचान् क्षणेनैव । इत्थं मानसमावेगमाभेजानो जाज्वल्यमानक्रु[4]

---

१ ज्ञातमपि २ निगडितम् ३ भ्रू क्षीवत तत सबुद्धौ दीर्घ
४ कालिमा ५ रोदनम् ६ नेत्रयुगलम्

कृशानुना प्रवृद्धपराक्रम पुष्पलावो[1] वन्धनानि त्रोटयितु भृश प्रायतिष्ट, समस्तशरीरशौर्येण च कर-चरणादीनूर्ध्वाध सञ्चालयितुमत्यर्थम-चेष्टिष्ट, किन्तु निकाचितानि कर्मवन्धनान्यभुक्त्वैव जन्तुरिव तानि नहि द्विधाकर्तु शशाक। हन्त! स्वकान्तातिरस्कारो नहि सोढु शक्यते तिरश्चापि, किं नाम पाणिपादवता विवेकिना नरेण ?

पञ्जरावरुद्ध-पञ्चाननस्येव आलाननियन्त्रितस्तम्बेरमस्येव नद्धा-र्जुनस्य सर्वेऽपि शारीरिका प्रयत्ना मोघमार्गमङ्गीचक्रु[2]। धगधगि-तिकुर्वद्वपुस्तातप्यमान-स्तत्रैव पतित इत्थ विकल्पयितु लग्न —
"हा! हन्त!! किं जातमद्य ? कोऽय दरिद्रो द्वादशात्मा[3] दत्तदर्शन ? कोऽय दुर्दशादर्शको दिवस ? केय प्रलयपरिप्लुता वेला ? केय विघटना घटयन्ती घटिका ? कोऽप्यपरोऽत्र नाऽपि[4] नास्ति यस्याग्रत पूत्कुर्वे। वत! वत! मया वृथैव पर्युपासिता मुद्गरपाणे प्रतिमा। हन्त! हन्त! मया फल्गु हि कृत पुष्पोपढौकनम्। अरेरे! वन्ध्यैव कृता चन्दनादिद्रव्यैरर्चना। अहह! मुधैव विहित मस्तकघर्षण-मग्रतोऽस्या। अद्य मम सर्वमपि भस्मनिहुतम्, प्रवाहेमूत्रितम् अरण्येरुदित चाऽभूत्। शक्तिशून्ये प्रतिमे! किं विलोकस नेत्रे-विस्फार्य भक्तकदर्थनाम् ? जडात्मिके! न त्रपसे किमुत स्वमस्तित्वमाविर्भाव-यन्ती ? शून्यचैतन्ये! भक्तस्य दुर्दशा कोऽपि शक्तिमान नेक्षितुमलम्, त्व न कथ म्रियसे द्विचलुकमिते जले निमज्जन्ती पुरतो भवन्ती दुर्घटनामविघटयन्ती ? वृथैव त्वा स्तुवन्ति विस्तरितै स्तवन-विन्यासैर्जना। अहो! अन्धाना पृष्टतोऽन्धा जङ्गम्यन्ते। धिङ् मम पूर्वजपुरुषाणामविवेकातिरेकताम्, ये ईदृशी गर्हणीयामर्हणामयी कुलपरम्परा सञ्चालयामासु। दारुमयि! कथ मन्दिरमध्यमध्या-सीना मूढान् वर्माच्छ्यावयसे ? किमुत ज्वलज्जलनज्वालाया पतित्वा पाकाय भस्मसान्न भवसि ? पतितसत्त्वे! शक्तिविरक्तया तवानया स्थायिकयाऽलमलम्। निष्क्रिये! किमन्तर्गण्डु गौरवमावहसि चेदव-सरेऽपि न कार्यं सिषाधयिषसि ? किं तेन जवनेनाश्वेन यो न दशशी पर्यवसानमहोत्सवेऽपि धावति ? भवतु तया पीनोध्न्या धेन्वा या न जातुचिदपि क्षरति क्षीरम्। कृत तेन धन्वन्तरिणा भिषगवरेण यो गदप्रतीकारसमयेऽपि प्रमाद्यति। मुद्गरधारिणि! अस्तु तवान्त

---

१ मालिक २ वैफल्यमापु ३ सूर्य
४ नरोऽपि ५ निरर्थकम्।

शून्यया मुद्गरविभीषिकया । ज्ञातं तवाद्य दैवसायुज्यम्[1] । गतं तवाद्य प्रभाववैभवम् । च्युतं तवाद्य चमत्कारचातुर्यम् । विदितं तवाद्य वास्तविकं रूपम् । पतितम्नवाद्य प्रत्ययः गर्भेण हृदयस्थलात् । अत ऊर्ध्वं न केऽपि त्वां पूज्यदृशा प्रेक्षिष्यन्ते नोपढौकिष्यन्ते च किमपि वरमुपहरणीयं वस्तु तवाग्रतः । प्रत्युत शून्यं तव धामोपस्थास्यन्ते शीतलाधानानि[2] यामियाम् । भरनाडनाना[3] प्रस्रवणैर्भवत स्थानं तव गुताग स्नानम् । स्नापयन्तः त्वां कृपानमयाता दिवानिशम् । भविष्यति तत्र चाचिरस्य शकुन्तानां निष्ठाभिः । शयायिष्यत ते घण्टिका धूकानां नि शूकैर्नादै । सम्पत्स्यते चात्र प्रकाशो निशाया सञ्चरता फणिना मणिभिः । इत्थं विकल्पानां चक्रं भ्रामयतः सहायतापगाढमुद्गरत्वेन यक्षं प्रति प्रशमुपालभमानस्य कोपावेशपरवशत्वेनात्मशुद्धिमानस्य तस्य वपुषि कम्पमानासनो विदितसमस्ततदुदन्तो भक्तसंवाहवाद्भुतात् मर्गश्चञ्चञ्चमत्कारदर्शनदक्षो यक्षो झिगिति प्राविक्षत् शक्तिरूपेण । तत्कालमेव तस्य विग्रहे निग्रहक्षमा हस्तिना स्थामापि पराक्रमन्ती शिलोच्चयमपि चूर्णयितुं प्रभूष्णु शक्तिः प्रादुर्बभूव । अचिन्त्यो हि सुपर्वणां प्रभावः । कमलनालानीव अपरिपक्वसूत्राणीव स तानि बन्धनानि क्षिप्रमनायास त्रोटयामास । तदैव सहस्रपलभारभारिणं मुद्गरं दक्षिणेनैव दण्डं समुत्पाटय क्रोधाध्मातलोचनो वदनादित्यमाम्रेडयन् दधावे—'भो ! भो ! पापीयसां पुरोगाः ! दुराचारिणो दुष्टाः ! स्थीयताम् स्थीयताम् भविष्यत्येवेदानीं कामुकहननाय कृतान्तः । निर्लज्जाः ! अलं त्वारम्भाचरता शुनोऽप्यनिरिच्यते युष्माकं दुश्चरित्रम् । धामाधाः ! सर्वथैवाद्यमुद्भावितम् । जातं जाता खलु प्रतिक्रिया युष्माकं दुःसाध्योपतापस्य । गतं गतं युष्माकं सापराधं जीवनम् । पतित-पतिता अत पतनो मुखा प्राणाः प्रयाणप्रियाणाम् ।

तैर्विपर्यविह्वलर्यावद् विलोकितमेव नहि तावदपतद् वृषस्याकृति रर्जुनो मुद्गरमुद्यम्य[4] षण्णामुपरि । पूर्वमेवोच्चण्डक्रोधचण्डिम्ना द्विगुणितौजाः पुनः क्षावेशविशेषितहृदयं दृढं मुद्गरेण प्राहार्षीत्, मृन्मयभाण्डानीव तेषां षण्णामपि च मस्तकानि सशब्दमभाङ्क्षीत् । गाढं वैपयिकरक्तिमानं व्यञ्जयन्तीव तदीयमुखेभ्यो निःसृता कदुष्णा

---

१ देवत्वम् । २ गर्दभाः । ३ श्वानानाम् ।
४ मन्दनादिना पुष्पादिक्षेपणम् । ५ बलमपि ६ उत्पाट्य ।

रक्तधारा। बहु दुर्विलोकितमावाभ्यामितीव पश्चात्तापपरायणौ बहिरापतितौ नयनगोलकौ तेषाम। किमावाभ्यामुर्ध्वीभूय करणीयमितीव ह्रीते[1] निम्नता गते तेषा नक्रे[2]। पर चिचर्वयिषुणा नियतमेव पतनमितीव स्वनिदर्शनेन प्रकटयन्तो दन्ता भुवस्तले पेतु। आगच्छन्तु भोक्तुकामा सर्वेऽपि शृगाल-कुक्कुर-गृध्राद्या मनोहृत्य च भवन्तु कुक्षिम्भरय इतीव निवेदयन्ति तेषा कलेवराणि लम्बायमानानि निश्चेष्ट काष्ठानीव पतितानि तत्र। एव नामशेषान्[3] तानशेषान् विधायापि नहि शशाम रोषकृशानो सर्वतोमुखी ज्वाला मालाकारस्य। विकृतवेषा वसुमती निरीक्ष्याऽथ कोपकर्कशया गिरा निर्भर्त्सयन्निदमब्रवीत्—"दुष्टे! कथमद्यापि जीवसि? ध्वमपातिव्रत्यापि मुग्ध दर्शयन्ती न कथ त्रपसे? यद्यपि विभाति जीवन वल्लभ धर्मस्तु तनोऽपि वल्लभतम। ध्रुवधर्माय क्षणिक जीवन तृणायन्ते तत्वज्ञा। पापीयसि! त्व जीवनव्यामोहेन धर्मभत्याक्षी। पतितसत्त्वे! यदा ते पङपि नीचात्मना प्रसह्य स्प्रष्टु प्रायतिषत तदा न कथमकृथास्त्व रचनात्मक कार्यम्? जिह्वामाकृष्य न कथममृथास्तत्कालमेव? किन्तु तात्पर्यपरिवर्जितै "प्राणेश्वर! त्रायस्व-त्रायस्वेति" प्रलापै किं सतीमतल्लिकात्वमदीदृशास्तदानीम्। नार्काणि किमु त्वया बहुश कर्णाभ्याम्? --यद् वसुमत्या माता धैर्यधूर्धारिणी धारिणी रथिकेन बलात्कृता क्षणादेव रसनामाकृष्य प्राणानुत्ससर्ज। साध्वीना धर्म ध्वसयितु कोऽपि क्षमो नास्ति क्षमायाम्। प्रौढपराक्रमोऽपि पौलस्त्यो नहि प्रबभूव सीता स्प्रष्टुमपि। त्वादृक्षा पुश्चल्यस्तु चलिता एव त्रिलोक्यन्ते कामयितृभि पुभि। धृष्टे! श्वसनविश्वासेन[6] जीवन्त्युपविष्टापि शीलविलयेन व्यापन्ना किं ममान्त करण दुखाकरोषि? नितीपामि त्वामपि तैर्जिगमिषिता[7] पद्धतिम्" इत्यमाक्रोशयन् समुत्सारितहिताहितविवेक पाशविकवलमनुशीलयन् हिमानीकम्प कम्पमाना कान्दिशीका मृत्युदण्डायोग्या कर्तव्यकातरा कामिनी तेनैव मुद्गरेण शिरसि गाढमताडयत्। मामेति जल्पन्ती वराकी दीर्घनिद्रया मुद्रितलोचना वृक्षाद् वृक्णा[8] शाखेव भूभागमशिश्रियत्।

हा! हा!! कीदृशी कोपान्धलाना तामसी वृत्ति? प्रतिघप्रवाहेण

---

१ लज्जिते। २ नासिके। ३ शत्प्रत्ययस्य रूपम्।
४ मृतान्। ५ कुलटा। ६ श्वासप्रत्ययेन।
७ गन्तुमिष्टाम्। ८ छिन्ना।

शून्यया मुद्गरविभीषिकया । ज्ञात तवाद्य देवसायुज्यम्¹। गत तवाद्य प्रभाववैभवम्। च्युत तवाद्य चमत्कारचातुर्यम् । विदित तवाद्य वास्तविक रूपम् । पतितस्तवाद्य प्रत्यय समेषा हृदयस्थलात् । प्रत ऊर्ध्व न केऽपि त्वा पूज्यदृशा प्रेक्षिष्यन्ते नोपढौकिष्यन्ते च किमपि वरमुपहरणीय वस्तु तवाग्रत । प्रत्युत शून्य तव धामोपस्थास्यन्ते शीतलायानानि² यामिनीयाम् । मरस्ववाहनाना³ प्रस्रवणेन सर्वतं स्यति तव सुतरा स्नानम् । स्तोष्यन्ते त्वा कपोतसंघाता दिवानिशम् । भविष्यति तव चार्चिक्य शकुन्तपोताना विष्टाभि । शब्दायिष्यते ते घण्टिका घूकाना निशूकैर्नादै । सम्पत्स्यते चाऽत्र प्रकाशो निशाया सञ्चरता फणिना मणिभि । इत्थं विकल्पाना चक्र भ्रामयत सहायतापराङ्मुखत्वेन यक्ष प्रति भ्रशमुपालभमानस्य कोपावेश परवशत्वेनाऽप्यकृच्छ्रपमानस्य तस्य वपुषि कम्पमानासनो विदित समस्तदुःखदवृत्तान्तो भक्तसेवाहेवाकाकृष्टान्त करणश्चक्रवच्चमत्कार दर्शनदक्षो यक्षो भिगिति प्राविक्षत् शक्तिरूपेण । तत्कालमेव तस्य विग्रहे निग्रहक्षमा हस्तिना स्थामापि परास्तयन्ती शिलोच्चयमपि चूर्णयितु प्रभूष्णु शक्ति प्रादुर्बभूव । अचिन्त्यो हि सुपर्वणा प्रभाव । कमलनालानीव प्रपरिपक्वसूत्राणीव स तानि बन्धनानि क्षिप्रमना यास त्रोटयामास । तदैव सहस्रपलभारभारिण मुद्गर दक्षिणाशेशि तेव दण्ड समुत्पाट्य क्रोधाध्मातलोचनो वदनादित्थमाक्र न्दयन दधावे — भो ! भो ! पापीयसा पुरोगा ! दुराचारिणो दुष्टा ! स्थीयताम स्थीयताम् सनिधत्त धुर्येव कामुकहतकान कृतान्त । निलज्जा ! बल त्कारमाचरता शुनोऽप्यतिरिच्यते युष्माक दुश्चरित्रम् । कामान्धा ! सवत्र वाच्यमुद्भावितम् । जात जाता खलु प्रतिक्रिया युष्माक दुराध्योपतापस्य । गत-गत युष्माक सापराध जीवनम् । पतित-पतिता अत पतनोन्मुखा प्राणा प्रयाणप्रियाणाम् ।

तैर्विस्मयविह्वलर्यावद् विलोकितमेव नहि तावदपतद् दुधृष्याकृति रर्जुनो मुद्गरमुद्यम्य⁴ षण्णामुपरि । पूर्वमेवोज्ज्वलक्रोधचण्डिम्ना द्विगुणितौजा पुन ख्यावेशविशेषित इयद् दृढ मुद्गरेण प्राहार्षीत् मृन्म यभाण्डानीव तेषा षण्णामपि च मस्तकानि सशब्दमभाङ क्षीत् । गाढ वैपयिकरक्तिमान व्यञ्जयन्तीव तदीयमुखेभ्यो नि सृता कदुष्णा

---

१ देवत्वम् । २ गर्दभा । ३ श्वानानाम् ।
४ चन्दनादिना पुण्ड्रादिविलेपनम् । ५ बलमपि ६ उत्थाप्य ।

रक्तधारा। बद्दु दुर्विलोकितमावाभ्यामितीव पश्चात्तापपरायणौ बहिरापतितौ नयनगोलकौ तेषाम। किमावाभ्यामुर्व्वीभूय करणीयमितीव ह्रीते[1] निम्नता गते तेषा नके[2]। परं चिचर्वयिषूणा नियतमेव पतनमितीव स्वनिदर्शनेन प्रकटयन्तो दन्ता भुवस्तले पेतु। आगच्छन्तु भोक्तुकामा सर्वेऽपि शृगाल-कुक्कुर-गृध्राद्या मनोहृत्य च भवन्तु कुक्षिम्भरय इतीव निवेदयन्ति तेषा कलेवराणि लम्बायमानानि निश्चेष्ट काष्ठानीव पतितानि तत्र। एवं नामशेषान्[3] तानशेषान् विधायापि नहि शशाम रोपकृशानो सर्वतोमुखी ज्वाला मालाकारस्य। विकृतवेषा बन्धुमती निरीक्ष्याऽथ कोपकर्कशया गिरा निर्भर्त्सयन्निदमब्रवीत्—"दृष्टे! कथमद्यापि जीवसि? ध्वसमा[4]तिनत्यापि मुख दर्शयन्ती न कथं त्रपसे? यद्यपि विभाति जीवन वल्लभ धर्मम्नु तनोऽपि वल्लभतम। ध्रुवधर्मार्य क्षणिक जीवन तृणायन्ते तत्त्वज्ञा। पापीयसि! त्व जीवनव्यामोहेन धर्ममत्याक्षी। पतितसत्त्वे! यदा ते पडपि नीचास्त्वा प्रसह्य स्प्रष्टु प्रायतिषत तदा न कथमकृथास्त्व रचनात्मक कार्यम्? जिह्वामाकृष्य न कथममृथास्तत्कालमेव? किन्तु तात्पर्ये परिवर्जितै "प्राणेश्वर! त्रायस्व-त्रायस्वेति" प्रलापै कि सतीमतल्लिकात्वमदीदृशस्तदानीम्। नाकर्णि किमु त्वया बहुश कर्णाभ्याम्? --यद् वसुमत्या माता धैर्यधुर्धारिणी धारिणी रथिकेन बलात्कृता क्षणादेव रसनामाकृष्य प्राणानुत्ससर्ज। साध्वीना धर्म ध्वसयितु कोऽपि क्षमो नास्ति क्षमायाम्। प्रौढपराक्रमोऽपि पौलस्त्यो नहि प्रबभूव सीता स्प्रष्टुमपि। त्वादृक्षा 'पु श्चल्यस्तु[5] चलिता एव विलोक्यन्ते कामयितृभि पु भि। धृष्टे! श्वसनविश्वासेन[6] जीवन्त्युपविष्टापि शीलविलयेन व्यापन्ना कि ममान्त करणं दु खाकरोषि? निनीषामि त्वामपि तैर्जिगमिषिता[7] पद्धतिम्" इत्यमाक्रोशयन् समुत्सारितहिताहितविवेक पाशविकबलमनुशीलयन् हिमानीकम्प कम्पमाना कान्दिशीका मृत्युदण्डायोग्या कर्तव्यकातरा कामिनी तेनैव मुद्गरेण शिरसि गाढमताडयत्। मामेति जल्पन्ती वराकी दीर्घनिद्रया मुद्रितलोचना वृक्षाद् वृक्णा[8] शाखेव भूभागमशिश्रियत्।

हा! हा!! कीदृशी कोपान्धलाना तामसी वृत्ति? प्रतिषप्रवाहेण

---

१ लज्जिते। २ नासिके। ३ शतृप्रत्ययस्य रूपम्।
४ मृतान्। ५ कुलटा। ६ श्वासप्रत्ययेन।
७ गन्तुमिष्टाम्। ८ छिन्ना।

शून्यया मुद्गरविभीषिकया । ज्ञात तवाद्य देवसायुज्यम्[१] । गत तवाद्य प्रभाववभवम् । च्युत तवाद्य चमत्कारचातुर्यम् । विदित तवाद्य वास्तविक रूपम् । पतितस्तवाद्य प्रत्यय समेषा हृदयस्थलात । अत ऊर्ध्व न केऽपि त्वा पूज्यदृशा प्रेक्षिष्यन्ते नोपढौकिष्यन्ते च किमपि वरमुपहरणीय वस्तु तवाग्रत । प्रत्युत शून्य तव धामोपस्थास्यन्ते शीतलायानानि[२] यामियाम् । भैरववाहनाना[३] प्रस्रवणेन सवर्त्स्यति तव सुतरा स्नानम् । स्तोष्यन्ते त्वा वपानसंवाता दिवानिशम् । भविष्यति तव चार्चनय शकुन्तपानाना विष्टाभि । शब्दायिष्यते ते घण्टिका घूकाना नि शूकनर्दै । सम्पत्स्यते चाऽत्र प्रकाशो निशाया सञ्चरता फणिना मणिभि । इत्थ विकल्पाना चक्र भ्रामयत सहायतापराङ मुखत्वेन यक्ष प्रति भ्र शमुपालभमानस्य कोपावेश परवशत्वेनाऽकम्पमानस्य तस्य वपुषि कम्पमानासतो विदित समस्तदु खदवृत्तान्तो भक्तसेवाहेवाकाकृष्टान्त करणश्चञ्चच्चमत्कार दर्शनदक्षो यक्षो झिगिति प्राविक्षत् शक्तिरूपेण । तत्कालमेव तस्य विग्रहे निग्रहक्षमा हस्तिना स्थामापि परास्तयन्ती शिलोच्चयमपि चूर्णयितु प्रभूष्णु शक्ति प्रादुर्बभूव । अचिन्त्यो हि सुपर्वणा प्रभाव । कमलनालानीव अपरिपक्वसूत्राणीव स तानि बन्धनानि क्षिप्रमना यास त्रोटयामास । तदैव सहस्रपलभारभारिण मुद्गर दक्षिणाशेषि तेव दण्ड समुत्पाट्य क्रोधाध्मातलोचनो वदनादित्यमाम्रेडयन् दधावे — भो ! भो ! पापीयसा पुरोगा ! दुराचारिणो दुष्टा ! स्थीयताम् स्थीयताम् सनिधत्तेऽधुनव कामुकहतकान कृतान्त । निर्लज्जा ! बल त्कारमाचरता शुनोऽप्यतिरिच्यते युष्माक दुश्चरित्रम् । कामान्धा ! सर्वत्र वाऽध्यमुदभावितम् । जात जाता खलु प्रतिक्रिया युष्माक दु साध्योपतापस्य । गत गत युष्माक सापराध जीवनम् । पतित-पतिता बत पतनो मुखा प्राणा प्रयाणप्रियाणाम् ।

तैर्विषयविह्वलैर्यावद् विलोकितमेव नहि तावदपतद् दुष्पृष्याकृति रज्जु नो मुद्गरमुखम्य षण्णामुपरि । पूर्वमेवोच्चण्डकोपपिण्डिम्ना द्विगुणितौजा पुन आवेशविशेषित हृदय्द् दृढ मुद्गरेण प्राहार्षीत् मृ म यभाण्डानीव तेषा षण्णामपि च मस्तकानि सशब्दमभाङक्षीत् । गाढ वैषयिकरक्तिमान व्यञ्जयन्तीव तदीयमुखेभ्यो नि सता कवोष्ण

---

१ देवत्वम् । २ गर्दभा । ३ श्वानानाम् ।

४ चम्बनादिना पुष्पादिक्षेपणाम् । ५ अलमपि ६ उत्थाप्य ।

रक्तधारा। बहु दुर्विलोकितमावाभ्यामितीव पश्चात्तापपरायणौ बहिरापतितौ नयनगोलकौ तेषाम्। किमावाभ्यामुर्ध्वीभूय करणीयमितीव ह्रीते[1] निम्नता गते तेषा नक्रे[2] । पर चिचर्वयिषूणा नियतमेव पतनमितीव स्वनिदर्शनेन प्रकटयन्तो दन्ता भुवस्तले पेतु । आगच्छन्तु भोक्तुकामा सर्वेऽपि शृगाल-कुक्कर-गृध्राद्या मनोहत्य च भवन्तु कुक्षिम्भरय इतीव निवेदयन्ति तेषा कलेवराणि लम्बायमानानि निश्चेष्ट काष्टानीव पतितानि तत्र। एव नामशेषान्[4] तानऽशेषान् विधायापि नहि शशाम रोषकृशानो सर्वतोमुखी ज्वाला मालाकारस्य। विकृतवेषा वन्धुमती निरीक्ष्याऽथ कोपकर्कशया गिरा निर्भर्त्सयन्निदमब्रवीत्—"दुष्टे ! कथमद्यापि जीवसि ? ध्वसपातिन्यत्यापि मुख दर्शयन्ती न कथ त्रपसे ? यद्यपि विभाति जीवन वल्लभ धर्मस्तु तनोऽपि वल्लभतम । ध्रुवधर्माय क्षणिक जीवन तृणायन्ते तत्वज्ञा । पापीयसि ! त्व जीवनव्यामोहेन धर्मसत्याक्षी । पतितसत्त्वे ! यदा ते पडपि नीचास्त्वा प्रसह्य स्प्रष्टु प्रायतिषत तदा न कथमकृथास्त्व रचनात्मक कार्यम् ? जिह्वामाकृष्य न कथममृथास्तत्कालमेव ? किन्तु तात्पर्यपरिवर्जितै "प्राणेश्वर ! त्रायस्व-त्रायस्वेति" प्रलापै कि सतीमतल्लिकात्वमदीदृशस्तदानीम्। नाकर्णि किमु त्वया बहुश कर्णाभ्याम् ? —यद् वसुमत्या माता धैर्यधूर्धारिणी धारिणी रथिकेन बलात्कृता क्षणादेव रसनामाकृष्य प्राणानुत्ससर्ज। साध्वीना धर्म ध्वसयितु कोऽपि क्षमो नास्ति क्षमायाम्। प्रौढपराक्रमोऽपि पौलस्त्यो नहि प्रबभूव सीता स्प्रष्टुमपि। त्वादृक्षा पुश्चल्यस्तु चलिता एव विलोकयन्ते कामयितृभि पुभि । धृष्टे ! श्वसनविश्वासेन[6] जीवन्त्युपविष्टापि शीलविलयेन व्यापन्ना कि ममान्त करण दु खाकरोषि ? निनीषामि त्वामपि तैर्जिगमिषिता[7] पद्धतिम्" इत्यमाक्रोशयन् समुत्सारितहिताहितविवेक पाशविकबलमनुशीलयन् हिमानीकम्प कम्पमाना कान्दिशीका मृत्युदण्डायोग्या कर्तव्यकातरा कामिनी तेनैव मुद्गरेण शिरसि गाढमताडयत्। मामेति जल्पन्ती वराकी दीर्घनिद्रया मुद्रितलोचना वृक्षाद् वृक्णा[8] शाखेव भूभागमशिश्रियत्।

हा ! हा !! कीदृशी कोपान्धलाना तामसी वृत्ति ? प्रतिघप्रवाहेण

---

१ लज्जिते। २ नासिके। ३ शतृप्रत्ययस्य रूपम्।
४ मृतान्। ५ कुलटा। ६ श्वासप्रत्ययेन।
७ गन्तुमिष्टाम्। ८ छिन्ना।

शून्यया मुद्गरविभीषिकया। शात तवाद्य देवसायुज्यम्[1]। गत तवाद्य प्रभाववैभवम्। च्युत तवाद्य चमत्कारचातुर्यम। विदित तवाद्य वास्तविक रूपम्। पतितस्तवाद्य प्रत्यय समेषा हृदयस्थलात्। अत ऊर्ध्व न केऽपि त्वा पूज्यदृशा प्रेक्षिष्यन्ते नोपढौकिष्यन्ते च किमपि वरमुपहरणीय वस्तु तवाग्रत। प्रत्युत शून्य तव धामोपस्थास्यन्ते शीतलायानानि[2] यामिन्याम्। भरवभाहूनाना[3] प्रस्रवणेन सततं स्यति तव सुतरा स्नानम। स्नाप्यन्ते त्वा कपोतसंघाता दिवानिशम्। भविष्यति तव चार्चिनय शकुन्तपोताना विष्टाभि। श्राविष्यते ते घण्टिका घूकाना निशूकैर्नाद। सम्पत्स्यते चाऽत्र प्रकाशो निशाया सञ्चरता फणिना मणिभि। इत्थ विकल्पाना चक्र भ्रामयत सहायतापराङ्मुखत्वेन यक्ष प्रति भृशमुपालभमानस्य कोपावेश परवशत्वेनाऽत्मक्रुध्यमानस्य तस्य वपुषि कम्पमानासनो विदित समस्तदु खदवृत्तान्तो भक्तसेवाहेवाकाकृष्टान्त करणश्चञ्चच्चमत्कार दर्शनदक्षो यक्षो झिगिति प्राविक्षत शक्तिरूपेण। तत्कालमेव तस्य विग्रहे निग्रहक्षमा हस्तिना स्थामापि परास्तयन्ती शिलोच्चयमपि चूर्णयितु प्रभूष्णु शक्ति प्रादुर्बभूव। अचिन्त्यो हि सुपर्वणा प्रभाव। कमलनालानीव अपरिपक्वसूत्राणीव स तानि बन्धनानि क्षिप्रमना यास त्रोटयामास। तदैव सहस्रपलभारभारिण मुद्गर दक्षिणाश्लेषि तेव दण्ड समुत्पाट्य क्रोधाध्मातलोचनो वदनादित्थमाश्र ह्यन् दधावे —'भो! भो! पापीयसा पुरोगा! दुराचारिणो दुष्टा! स्थीयताम् स्थीयताम् सनिधत्त ऽधुनैव कामुकहतकान कृतान्त। निर्लज्जा! बल त्कारमाचरता कुतोऽस्मतिरिच्यते युष्माक दुश्चरित्रम्। कामान्धा! सर्वेऽत्र वाऽभ्यमुद्भावितम्। जात जाता खलु प्रतिक्रिया युष्माक दु साध्योपतापस्य। गत-गत युष्माक सापराध जीवनम्। पतित-पतिता बत पतन्तो मुखा प्राणा प्रयाणप्रियाणाम्।

तैर्विषयविह्वलैर्यावद् विलोकितमेव नहि तावदपतद् दुष्ट्यापाकृति रर्जुनो मुद्गरमुद्यम्य' षण्णामुपरि। पूर्वमेवोच्चण्डक्रोधचण्डिम्ना द्विगुणितौजा पुन आवेशविशेषित इयद् द्रुत मुद्गरेण आहार्षीत् यू म यमाण्डानीव तेषा षण्णामपि च मस्तकानि सशब्दमभाङ्क्षीत्। गाढ यथयिकरक्तिमान व्यञ्जयन्तीव तदीयमुखेभ्यो नि सता कदुष्ण

---

१ देवत्वम्। २ पर्यंका। ३ ध्वानानाम्।
४ चन्दनादिना पुष्पादिक्षेपणम्। ५ गतमपि ६ उत्थाप्य।

रक्तधारा। बहु दुर्विलोकितमावाभ्यामितीव पश्चात्तापपरायणौ बहिरा-पतितौ नयनगोलकौ तेषाम्। किमावाभ्यामुर्ध्वीभूय करणीयमितीव ह्रीते॑ निम्नता गते तेषां नक्रे ।पर चिचर्वयिषूणां नियतमेव पतन-मितीव स्वनिदर्शनेन प्रकटयन्तो दन्ता भुवस्तले पेतु । आगच्छन्तु भोक्तुकामा सर्वेऽपि शृगाल-कुक्कर-गृध्राद्या मनोहृत्य च भवन्तु कुक्षि-म्भरय इतीव निवेदयन्ति॑ तेषां कलेवराणि लम्बायमानानि निश्चेष्ट काष्ठानीव पतितानि तत्र। एवं नामशेषान्॑ तानशेषान् विधायापि नहि शशाम रोषकृशानो सर्वतोमुखी ज्वाला मालाकारस्य। विकृत-वेषां बन्धुमती निरीक्ष्याऽथ कोपकर्कशया गिरा निर्भर्त्सयन्निदमब्र वीत्—"दुष्टे! कथमद्यापि जीवसि? ध्वसपातिनत्यापि मुख दर्श-यन्ती न कथं त्रपसे? यद्यपि विभाति जीवन वल्लभं धर्मस्तु ततोऽपि वल्लभतम । ध्रुवधर्माय क्षणिक जीवन तृणायन्ते तत्वज्ञा । पापीयसि! त्वं जीवनव्यामोहेन धर्ममत्याक्षी । पतितसत्त्वे! यदा ते षडपि नीचा-स्त्वां प्रसह्य स्प्रष्टुं प्रायतिषत तदा न कथमकृथास्त्वं रचनात्मक कार्यम्? जिह्वामाकृष्य न कथममृथास्तत्कालमेव? किन्तु तात्पर्य-परिवर्जितै "प्राणेश्वर! त्रायस्व-त्रायस्वेति" प्रलापै किं सतीम-तल्लिकात्वमदीदृशस्तदानीम्। नार्काणि किमु त्वया बहुश कर्णा-भ्याम्? --यद् वसुमत्या माता धैर्यधुर्धारिणी धारिणी रथिके बलात्कृता क्षणादेव रसनामाकृष्य प्राणानुत्ससर्ज। साध्वीनां धर्म ध्वसयितु कोऽपि क्षमो नास्ति क्षमायाम्। प्रौढपराक्रमोऽपि पौलस्त्यो नहि प्रबभूव सीतां स्प्रष्टुमपि। त्वादृक्षा पुंश्चल्यस्तु चलिता एव विलोकयन्ते कामयितृभि पु मि । धृष्टे! श्वसनविश्वासेन॑ जीव-न्त्युपविष्टापि शीलविलयेन व्यापन्ना किं समान्त करण दु खाकरोषि? निनीषामि त्वामपि तैजिगमिषिता॑ पद्धतिम्" इत्थमाक्रोशयन् समुत्सारितहिताहितविवेक पाशविकबलमनुशीलयन् हिमानीकम्प कम्प-माना कान्दिशीका मृत्युदण्डायोग्या कर्तव्यकातरा कामिनी तेनैव मुद्गरेण शिरसि गाढमताडयत्। मामेति जल्पन्ती वराकी दीर्घ-निद्रया मुद्रितलोचना वृक्षाद् वृक्णा॑ शाखेव भूभागमशिश्रियत्।

हा! हा!! कीदृशी कोपान्धलाना तामसी वृत्ति? [illegible]

---

१ लज्जिते। २ नासिके। ३ [illegible]
४ मृतान्। ५ कुलटा। ६ [illegible]
७ गन्तुमिष्टाम्। ८ छिन्ना।

परिप्लाव्यमानाना भूस्पृशा कीदृग् दयनीया दशा ? हन्त ! कीदृग् दुष्कृत्यमाचरितमनालोच्यैव दुष्टेन ?

प्राणशा बन्धूमती विशस्याऽ था पुन परामृशति स्म रक्तपातसजाताती वाततायिन्या भावनया—नूनमत्रत्या नागरिका प्रायेण दुव त्ता वत्त ते। सच्चरित्रबलमभीपु मनागपि नहि विजृम्भते । अत्र महीपालोऽपि नहि नीतिपरायणतया प्रजामनुशास्ति । नगरे कि घटनाचक्र बम्भ्रमीतीति नावधत्ते । अस्य शासने विषाद साधूनाम् सङ्कोच सच्चरित्राणाम् प्रोत्साह कापथप्रस्थितानाम् पुरस्कारो लालाटिकानाम् पयु पास्ति पाषण्डानाम् अर्चा दम्भद र्शीकरदृष्टानाम् वधुय धयघुरन्धराणाम् कदर्थना सत्यवाग्मिनाम् उपहासश्चायवर्याणाम् । अस्तु अद्यप्रभृति निरन्तरमह षट्पुरुषान् नारीमेका चानेन मुद्गरेण हनिष्यामीति प्रति जानामि यथा पौरपरिवतो महीपोऽपि प्राप्स्यति स्वकीय-दु शासित स्वाधीनसाम्राज्यसुखम् ज्ञास्यति च सुतरा स्वौद्धत्यपरिणामम् ।

अत ऊध्व प्रत्यह यक्षाधिष्ठिततनुरर्जुनो मुद्गरमुद्यम्य कोपकम्प्रा धर पर्यटन् निरपराधान् स्त्रीसप्तमान् षड मानवान् पितपतिमुख प्रवेशयति स्म । यावन्न तस्य प्रतिज्ञात पूर्तिमियर्त्ति स्म तावन्नहि स विश्रान्तिमाश्रयते स्म । अहो [1] षण्णामघमानामपराधन कियन्त स्तत्रत्या निरपराधा आलेख्यशेषतामाश्रयितु लग्ना । उत एकस्मिन्नपि गृहे निक्षिप्तोऽग्निकण पारिपाश्विकाना किमु न शतशो भुवनानि भस्मसात्कुर्यात् ? एकस्यैव दुर्योधनस्य दुर्णयेन न किमु कृतान्तेन कवलीकृत कौरवकुलम् ? एकस्यैव दशक धरस्य दुराग्रहेण लङ्कावास्त व्य कि कि कृच्छ्र नान्वभावि ? कतिपयानामेव यादवकुमाराणा मदि रोन्मादितया नाऽज्वलि किमुत दाहो देवलोकभूताया द्वारकाया ? अत एव देशत्यागाच्चदुर्जन इत्युक्तिर्याथातथ्यमेव व्यनक्ति ।

अजनि कोलाहलो जनतायाम् । कोऽयमाकस्मिक उत्पात समुत्पन्नो दुर्भाग्येण ? केयमतर्किता महामारी जनसहाराय समुद्यता ? केय ज मजन्मान्तरोप्ता अनेकदुव्यसनपय सिक्ता पौराणा पापवल्ली पल्ल विता ? अहरह केषाञ्चिद् भ्राता केषाञ्चिदेकाकयेव नन्दन केषा

---

१ मारयित्वा ।

२ कालमुखम् ।

३ प्रातिवेश्मिकानाम

ञ्चिज्जामाता, केषाञ्चित्पौत्र, केषाञ्चिन्माता, केषाञ्चिद् भगिनी, केषाञ्चिदभागिनेयी, व्यापाद्यते चा ऽर्जुनेन। सम्पूर्णमपि पत्तन हाहारवेण व्यानशे। प्रतिसदनमश्रु यत दैन्यमुदीरयन्नाक्रन्दनध्वनि। प्रतिमार्गमश्रियत चैषैव दुःखदवार्त्ता पौरैरितरेतरम्। प्राप पूत्कृतिर्नृपान्तिकमपि। दत्तावधानेन श्रेणिकेनापि वहुप्रायाति[1] तदुपद्रवद्रुमोन्मूलनाय समूल, किन्तु लक्ष्यमभिन्दाना धनुष्मत इषव इव नृपस्य सर्वेऽपि प्रयत्ना वैफल्यमापु। अमात्यप्रवरेण अभयकुमारेण तदाऽनुसमधायि, किमिद वृत्तमिति[2] अन्ततोगत्वा निष्कर्षपरामर्शनेन चेत्यज्ञायि—"यक्षाधिष्ठितवपुरयमर्जुनो मारयति मनुष्यान्। नास्योपद्रवस्योपशम सामान्यशक्तिभाजा नरेण कर्त्तुं शक्य, किन्तु समयमासाद्य केनचिन्महामहिम्ना मनुष्येण साम्यमेष्यतीति" अथान्ते विफलायासेन तदुपप्लवविप्लुतेन पूर्णप्रजावत्सलेन पार्थिवेन पूर्यामित्युदघोषि—"कोऽपि चिर जिजीविषु पुमान् मागात् नगर्या वहिर्गुणशीलोद्यानदिशि[3]। यदि कश्चिदगमिष्यदज्ञाततया स्वबलावलेपेन वा तममारयिष्यद् गर्जयन्नर्जुन कृतान्ताकृति, सोऽभविष्यच्च चिराय तत्रैव भूशायी।"

इदमाकर्ण्य सावधाना सर्वेऽपि पौरास्तस्यामाशाया[1] नहि जिगमिषाम्बभूवु। किन्तु केचन दुःसाहसमासाद्य, केचन कौतुकनिरीक्षणपरा, कतिचन दिङ्मूढतया, काचिन् मृत्युमप्यवगणयन्ती कार्यव्यग्रा वृद्धा, काचिच्छगणानयनलोलुभा वाला, काचिद् गोरसाद्यानयन्ती वाभीरी, कतिचन परसन्निवेशादागच्छन्त पान्था[4] शाकटिका[5] वा दैवादर्जुनप्रतिज्ञामपूपुरन्।

इत्थ पञ्चमासत्रयोदशदिनानि यावत्प्रत्यह सप्त-सप्तजनमारणप्रह्वेण अत्यन्तनिष्ठुरचेतस्केनाऽऽततायिनार्जुनेन एकादशशतैकचत्वारिंशज्जना समूलमुज्जासिता विशसिता जीवनाच्च्याविता श्च। हा! कीदृक् चाण्डलिकी वृत्तिश्चण्डाशयानाम्!

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचित आर्जुनमालाकारे गद्यकाव्ये कामुकाऽऽलापकामगर्हाऽर्जुनस्नियन्त्रण-वनितावलात्कार-कुपितार्जुन-कृतयक्षगर्हा-कामुकहनन-साक्षेपनारीमारण-नित्यसप्तजनहननात्मक-तृतीय समुच्छ्वास

१ प्रयत्न कृत २ अनुसन्धानमकारि ३ दिशि
४ अध्वगा ५ ये शकटवाहका

चतुर्थ समुच्छ्वास

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्याय्यात्पथ प्रविचलन्ति पदं न धीरा ।।

—(भर्तृहरि)

पर्यायरूपेण प्रतिसमय वस्तु परावर्त्तनमाकाङ्क्षति। उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मिका त्रिभङ्गी विविधभावभङ्गीभिस्तरङ्गयति कृत्स्नामपि विश्वस्थितिम्। यथा वल्गद्वातवीचिपारिप्लवानि भौतिकसुखानि विलसन्ति तद्वद् दु खान्यपि क्षणिककक्षा लक्षयन्ति। वस्तुत —यत्सुख तदेव दु खम् यद् दु ख तदेव सुखम। सुखमिवदु खमप्यावश्यक मन्यन्ते मनस्विन। मधुवन्निम्बमपि पीत्वा पेप्रीयन्ते रोगोपशममिच्छव। सुखे हर्षोत्कपपरवशा हि दृश्यन्ते दु खे दैन्यमुद्वमन्त। अत साम्यमेव काम्यमामनन्तो महर्षयो जीवन्तोऽपि मुक्तिसुखलेशास्वादमनुभवन्ति।

तेन रोषपरवशेनार्जुनेन भृशमुपद्रुता राजगृहपूर्जनता। यत्र कुत्रापि सम्मिलन्त पौरा एतामेव कथा पप्रथिरे। कदेम कष्टाऽकूपार तरिष्यतीय पुरी? कदैषा रक्तपानपिपासिता चण्डा मालाकारकुञ्च ण्डी सौहित्यमासाद्य मुण्ड परावर्त्तयिष्यते? अद्यापि नहि कान्यपीह-शानि चिह्नानि दृकपथमवतरन्ति यथेय व्यथाज्वाला शैत्यमुद्भाव

१ कष्टसमुद्रम्

येत्। भगवन्! किमस्माभिरीदृशि भूयस्येनासि[1] सञ्चितानि यैरेतादृशी भीमाऽऽपद्वल्ली प्रलम्बायमानैव जाजायतेऽस्मदुपरि। एवं सर्वेऽपि तत्रत्या दुःखपङ्के आकण्ठमग्ना विकल्पतल्पे शयाना नित्यमुत्स्वप्नयामासुः।

इतो भविना भाग्यप्रभञ्जनैः[2] प्रेरिताः पर्जन्या इव, सायान्त्रिका इव च धर्मप्रवहणेन भवार्णवं स्वयं तरन्तो निजाश्रितान् तितीर्षून् तारयन्तः, ग्रामानुग्रामं विहरन्तः, परोपकृतिमयं जीवनं यापयन्तः, भगवन्तो अर्हन्तः श्रीमद्वर्धमानस्वामिनो राजगृहस्य गुणशीलोद्याने पदार्पणं चक्रुः।

तत्रभवतामागमनं धार्मिकचक्राय सूचयदिवाकाशे चचाल धर्मचक्रम्। निर्द्वन्द्वाऽचलानन्तसुखाभिलाषिणो भव्या भगवतामङ्ह्रिसरोजमाभेजानाश्रिराय नन्दन्तीत्यावेदयन्निव देवदुन्दुभिरुच्चैर्नभस्तले नदितुं लग्नः। चलद्धर्मचक्रं शब्दायमानं च सुरदुन्दुभिं निरीक्ष्य पुनराकर्ण्य नृपेण नागरिकैश्च व्यबोधि- "नूनमत्रभवन्तश्चरमतीर्थङ्करा आर्यदेवार्याः समागताः, गुणशीलोद्यानभूभागमलङ्कुर्वाणास्तिष्ठन्ति। अर्जुनभिया तत्र गन्तुमप्रभूष्णव श्रेणिकाद्याः समेऽपि श्रद्धालवो जनास्तत्रस्था एव प्रभुं यथाविधि ववन्दिरे, हर्षोत्कर्षतया तुष्टुविरे, धैर्यमवधीरयन्तश्चाभिदधिरे--"भगवन्! वयं भृशं भीरुका भवन्तं भवनस्था एव भजामहे, नहि साक्षात्कारं कर्तुं च क्षमामहे। धन्य-धन्यः सोऽपि कश्चित्समयः समेष्यति यदा श्रीमतां मुखचन्द्रं साक्षाद् प्रेक्षिष्यामहे चरणयुग्मं च शिरसाभिवन्दिष्यामहे।"

अथ सुदर्शनश्रेष्ठिनापि व्यलोकि चञ्चद्धर्मचक्रं अश्रावि च देवदुन्दुभिनादो यदा, तदा भगवता मङ्गलमयमागमनं स्वचेतसि निश्चितम्। हर्षप्रकर्षेण विकस्वरवदनकमलो रोमाञ्चकञ्चुकितः परमार्हतो विमलदर्शनः सुदर्शनो विचारयितुं लग्नः—"धन्योऽद्यतनो वासरः स्वर्णमयेन रविणा प्राकट्यं नीतः। धन्येयं मङ्गलमयी वेला, धन्येयं श्रेयोघटनपटीयसी घटिका, धर्मदक्षैश्च प्रतीक्ष्योऽयं क्षणः, येषां नामधेयश्रवणमात्रेणापि कृतार्थाः स्युः प्राणिनां सार्थाः, तेषां महमद्य साक्षात्कारं करिष्ये। किमतः परं शुभं विभाति विश्वस्मिन् विश्वे? श्रेयसलि-

१ पापानि २ भाग्यपवनैः
३ पोतवणिज

लसिक्त फलितमद्य मम भाग्यतरु । गुणरत्नाना निधिरद्य मम सन्निधि प्राप्त । इत्थं परामृशन् सुदशनो भगवद्दर्शनाय सज्जो बभूव । सज्जी भूत परमहृष्टमानस प्रस्थानो मुख पुत्र प्रविलोक्य पप्रच्छतुर्माता पितरौ— न दन ! क्वाद्य प्रस्थातुमना सज्ज इव दृश्यसे ? किं किल केनापि सहचरेणाऽऽमन्त्रितोऽसि भोजनाय ? उता ऽन्यस्या कस्याञ्चिद् धार्मिकसभायाम ? अन्यत्र कुत्राप्यथवा जिगमिषा तावकीना ?

करौ कुडमलीकृत्य सुदशन — नहि पितरौ ! अह तु श्रीमता मम परमाराध्येष्टदेवताना महावीरप्रभूणा दर्शनार्थमुत्कण्ठितोऽस्मि । तत्रैव जिगमिषरह शुभाशिषा वधनीय ।

भयमाविर्भावयन्तौ पितरौ— किमुदितम् ! दर्शनाथ गुणशीलो द्याने ? आलप्यालमिदम् !! विस्मृता किमुत मालाकारस्य नृशसता ? सूनो ! कस्य न वल्लभतम भगवद्दर्शन वर्वत्ति ? निर्द्वन्द्व तच्चरण द्वन्द्व कस्को न स्प्रष्टु स्पृहयेत् ? शमथपथ प्रदशयन्त्य सुधारसकिरस्त द्गिर न कस्य कर्णाजाह पुनते ? किन्तु समयवपरीत्यमुज्जिहीते विरुणद्धि च प्रतिष्ठासुभि पञ्चजनै समम । कुलकेतो ! अहरहो जाजायमान हत्याकाण्ड नाकण्यते किमुत ? सद्मनि-सद्मनि बोभूयमान माक्रन्दन नास्कन्दति किमुत तव कारुण्यसरोवरम् ? सन्ति भगवन्त केव लज्ञानभाज । प्रतिसमय विलोकन्ते करामलकवल्लोकालोकभावान् । रहसि विहितमपि प्रेक्षन्ते ते साक्षात्कारतया प्रक्षीणज्ञानावरणा । अन्वयदिवाकर ! भावबुभुक्षिता हि भवन्ति महात्मान नहि बाह्याड म्बर विशिषन्ति सात्त्विकवत्तय । अतो विरम विरमामुष्मादसामयिक कृत्यात् । अत्रवोषित्वा भक्तिप्रह्वतया भगव तमनन्तशुद्धमनसा सविनय प्रणम्यस्व स्तोत्रादिपाठैरभिवादयन् रमस्वात्मानन्दे पुपाण पुनराध्यात्मिकी पद्धतिम् । नून सम्यक्तया भविष्यति तव विधेयस्य विधिवद् विहिता वन्दना नात्रसशयावकाश ।

अव्यग्रतया सुदर्शन — मातर पितरौ ! किमुद्भाविता भवद्भ्या भीरुभाव भजमाना भारती ? महावीरानुयायिना युज्यते किमेतादृशी कातरता ? ये वधमानस्यान्तेवासिनो दृढश्रद्धालव श्राद्धा सन्ति तेषा नहि कुत्रापि साध्वसम् । तद्वचनमवचनीयतया समाचरन्तो मृत्युमुखेऽपि

---

१ उत विकल्पे   २ शोषयति
३ विनीतस्य   ४ वाणी
५ भयम्

सुखमासादयन्ति निर्भीकतया श्रावका । आवीचिमरणापेक्षया प्रतिपल म्रियत एव प्राणी । कवलीकृतान् जेगिल्यमान क्रोडीकृतान् कथ त्यक्षति त्यक्तदय समवर्त्ती ? अध्रु वाणामसूना कृते ध्रु व धर्म चेत् परिजह्या तदा को मादृशोऽन्यो मेदिन्या देवनाप्रिय ? अविनश्वरा-त्मिकसुखहेतवे नश्वरान् प्राणानुत्सृज्येय तदा तु चिराय चारभटचक्र—चक्रवर्तित्वमाचरेयम् । पूज्यौ ! पुनरिदमवधेयम्—यदह सर्वात्मनि जन्तुमात्रेषु मैत्री परिभूत्रयामि तर्हि मया सह क प्रत्यवस्थास्यते ? यदह सुतरा सर्वसत्त्वेष्वभय भजामि तदा को मा भापयितु प्रभु ? यर्हि कृत्स्नामपि महीमह बन्धुतया निबध्नामि तर्हि को मा विरो-त्स्यति निष्कारणम् ? नालोकित किमु परमकारुण्यप्रतिष्ठिताना जिनेन्द्राणामुपकण्ठे यद् सिंही सारङ्ग-शिशु स्निह्यति । नहि गर्जति मारयितुमुन्दुरुमपि मार्जारी । नकुलोऽपि नहि व्याकुलयति व्यालचक्र-बालम् । अहह ! नित्यवैरिणोऽपि वैरमुत्सार्य वृण्वन्ति हार्दिकसोहा-र्दम् । अहमपि तेषामेव शिष्योऽस्मि । यद्यपि नहि तादृशी पराकाष्ठा विभ्राजते मदीया तथापि तद्ध्यानपरे मयि तादात्म्यसम्बन्धेन सम्प-त्स्यते सैव शक्तिरित्याशासे नि सशयम् । जनकौ ! तात्त्विकदृशा विलोकनेन नहि अजरामरस्य जन्तोर्जायते जातुचिदपि मरणम । जीर्णवाससा परित्यागे नहि कष्टमुद्भूयन्ति निष्टङ्कितान्त करणा सुकृतिन कृतिन । वीरोपासकौ ! अतो जिनेन्द्रदर्शनोत्सुक पौरस्त्य-मङ्गलमाचरन्तमकुतोभयममु पुत्र नि शङ्कतया मुदाऽऽज्ञापयताम्' वर्धापयता वर्धमानानन्दौ शुभकार्यमाद्रियमाण चैनम् ।"

जननीजनकौ प्राणप्रियस्य सुदर्शनस्य विलसद्वीरत्व क्लिश्यत्का-तरत्व चारुविचारचतुरत्व विहिताऽऽयतिहितरचन वचन कर्णातिथी-कृत्य तस्य निश्चलतामुन्नयन्तौ अन्तर्भीतावपि "यथासुख कुरु" इत्यु-च्चार्य तुष्णीं भेजतु ।[४]

अथ सानन्दमना सुदर्शन पादचारेण वीरदर्शनार्थ प्रतस्थे । उत्तरासङ्गादिशोभिता दर्शनोचिता वेषभूषा विलोक्य मार्गे मिलिता अनेकश सवयस्का प्रस्थानकारण जिज्ञासाञ्चक्रिरे । तन्मुखाद् वीरसाक्षात्कारायेति निशम्य सर्वेऽपि स्तब्धाश्चित्रलिखिता इवाऽभवन् अवदश्च प्रेमसरसतया वाचा—"सखे ! नाय कल्याणकारी कालस्तत्र गन्तुकानाम् । समयमजानाना विज्ञा अपि मूर्खशेखरतामादधते ।

४ द्विवचनम्

भगवन्तोऽत्र बहुधा समागता समेष्यन्ति च । मङ्गलमातन्वत्तद्दर्शनं न वय निषेधचिकीर्षं कि तु तद्दर्शनस्थल क प्राप्स्यति पथि पूर्वमेव दारुणोऽर्जुन साक्षाद् यम इव दशन दास्यति करस्थेन मुद्गरेण प्राणान्त च दर्शयिष्यति । मित्र ! मन्यस्वाऽतोऽस्मदीयामात्मनीना शिक्षाम् ।

स्मयमान सुदर्शन — अत्यदमुतम ! मञ्जुम त्रणा मित्रवर्याणाम । सहचरा ! कि निर्मास्यध्वे यूय जगत्कल्याणाय येषामियान्निर्बल आत्मा ? इयान् मरणातङ्क ? कालस्तु कल्याणकारी कल्याणकर्मणा भविष्यति नहिं कल्याणकल्पनया । उद्योगिन कर्मठा नाऽनेहस प्रतीक्षन्ते प्रत्युताऽनेहा शानीहमान उत्तिष्ठते[1] । वदन्ति विद्वांसस्तु— शुभस्य शीघ्रमिति न जाने आगामिक समय कीदृश समेष्यति ? समयो मूल्यधनम । समयो महत्साधनम । समय सिषाधयिषूणा सिद्ध यन्ति सर्वाणि कार्याणि । किञ्च ग्रामान्तरेऽप्यागतान् प्रभून् निशम्य बहुधा दर्शनाथ यामि तदत्रैव विराजमानान् देवार्यान न कथ पर्युपासे ? नही दृशो मन्दभागधेयोऽहं य मत्युबिभीषिकयाऽऽत्मानमपि जिनदशनाद् वञ्चयेयम । सखाय ! क्लिष्टाध्यवसायेय तु बहुशो व्यापन्न मया किन्तु नाऽभूत्किमपि भद्रम । अद्य चेदजु नमुद्गरप्रहारेण भगवल्लयलीन स्तद्ध्यानैकतानो विधूतसर्ववासनो म्रियेय तदा किमत पर भव्य भावि ? स्निग्धा ! मा स्म वहन्मुधा खेदम् सुनिश्चित वरेण्ये कारण वरिष्ठ काय वर्तिष्यते। इत्थमतीव तदात्मदाढय मन्वाना सर्वेऽपि सखाय शुभ भूयात इत्याचक्षाणा पथपार्थक्य प्रापु ।

विद्युच्चमत्कृतिरिवैषा प्रवृत्ति समस्तेऽपि नगरे विस्तृता । तत्र कतिचन जना व्रजन्त सुदर्शन वीक्ष्य तत्कृत्यमनाद्रियमाणा सव्य ङ्गमुपजहसु ।

आस्ये हास्यलास्य दर्शयन्न क —अद्य क्व प्रस्थिता इमे महात्मानो मित्र ?

द्वितीय —न जानासि किमु ? इमे भक्ता प्रस्थिता भगवद्दर्शनार्थं तत्पादस्पर्शनाथ च ।

साट्टहास तृतीय —मृषोद्यमिदम् किन्तु वदेत्य भद्र ! मृत्युदर्श नाथ भूमिघषणाथमजु नहषणाथ च ।

---

१ उद्योऽनुर्त्वेवैष्टायामित्यात्मनेपदम् (तैयार रहता है' इतिभाषा)

ससिंहतालशब्द पुनरपि द्वैतीयीक—मूर्खोऽसि त्व तु, भक्ताना चिकुरमपि वक्रयितु कोऽपि कोपी[1] नालम्। मृत्युमुखे तु त्वादृशा मादृशा पापीयास पतन्ति।

पुनस्तार्तीयीक—वर-वर, क्षमस्व क्षमस्व, आशातिता महा-मनसो मया।

पार्श्वस्थितस्तुर्य कश्चित्—तदा त्विमे भक्ता नगरोपद्रव शामयितार ?

पौरस्त्य—नगरोपप्लवमस्तु शमित एव विद्धि, यदेदृशा भक्ता गच्छन्ति।

द्वितीय—अवश्यमवश्य स्वयमेव शान्ता भवितार स्वर्ग पवित्रयितुम्।

साट्टहास हसन्त सर्वेऽपि—अनवसरज्ञोऽसि त्व तु रङ्गे भङ्ग-मापादयसि।

चतुर्थ—ईदृक्षा अवसरा अपि जातुचिदेव मिलन्ति।

प्रथम—'आम्' 'आम्!' जनाना सङ्कुलता नास्ति मनागपि मार्गे।

द्वितीय—अहह! विज्ञातम्-विज्ञातम्! विजने भगवद्भि सह वार्त्तया सम्यगवसरो मेलिष्यति, बहूना मध्ये सूक्ष्माणा प्रश्नाना समाधान भवत्येव नहि।

सर्वेऽपि—ईदृशा प्रस्तावा भक्तैरेव लक्ष्यन्ते नापरै।

प्रथम—ईदृशा भगवद्भक्ता कियन्त सन्ति समस्तेऽस्मिन् पत्तने ?

तृतीय—केवल पञ्चपा[2] एव भक्तसत्तमा[3] वर्तन्ते।

सविस्मय द्वितीय—र्तहि पञ्च कुत्र पञ्चत्व प्राप्ता, कथमनेन सार्ध न सम्मिलिता ?

तृतीय—दुर्मुखोऽसित्वम्, पञ्चत्व कुत्र प्राप्ता, अर्जुनेन नाम-शेषता नीता।

द्वितीय—अहो! अहो!! नामशेषतामासादयितुमयमपि प्रयतते।

---

१ क्रोधी।
२ पञ्च वा षड् वा।
३ भक्तश्रेष्ठा

प्रथम—किं विचित्रमिदम् ? नामशेषा एव संसारे जीविता सन्ति अन्ये तु त्वादृशा जीविता अपि मृतप्राया ।

द्वितीय—त्वादृशा अपि ।

तुरीय—तर्हि गच्छन्तु-गच्छन्तु भवन्तु शीघ्र यशःशेषा इमे महात्मान ।

कतिचन भद्रप्रकृतयो धार्मिका सुदर्शनं यान्त दृष्ट्वा परस्पर मिदमालेपु—य योऽय पुण्यात्मा सुदर्शनो य मृत्युभयमप्यवगणय्य वीराग्रणीर्महावीरदर्शनाय प्रस्थित । य याऽस्यप्रसूर्यया ईदृक् पुत्र रत्न प्रसूतम् । प्रशस्याऽस्य धर्मनिष्ठा यदापत्स्वपि नहि कर्तव्याद् विरिरसा ।[1]

केचन सुजनास्तु सहानुभूत्यर्थमागोपुर सुदर्शनेन साधमपि प्रचेलु । पुन कतिपये मृगा इव कुतूहलाकुला सुदर्शनस्यानुपद शनं शनैरसरन् । योगीश्वर इव सुदर्शन स्तुतौ निन्दायां साम्य सेवमा नोऽथ पुरगोपुर प्राप । सहयायिन सर्वेऽपि पारावारतटस्थपुरुषा इव तत्रैव तस्थु । दृश्यदर्शनोत्सुका केचन गोपुरस्योपरितनभाग मध्यूपु । प्रत्य मनेऽसुमान्निवैकाकी पुराद् बहि सुदर्शन सुकृतसहा यश्चचाल । तदा मूर्तिमानिव शान्तरसेन संपृक्तो वीररस एकत्रित इव धैर्यराशि अवतरित इव इश्यो धर्म कल्पितकाय इव कारुण्य भाव जङ्गम इव गुणरत्ननिधि प्रत्यक्ष इव नियम महावीरा भिमुख गच्छन्नय गोपुरस्थर्जनैरतर्कि ।

इत प्रत्यह सप्तजनव्यापादनव्यापृतहस्त कोपविहस्त प्रवृद्ध क्रौर्यविचार शरारुरर्जुनोऽरण्ये मृगयामन्वेषयन् व्याध इव गुण शीलोद्यानद्वारि स्कन्धे मुद्गरमाधाय कमप्यागन्तुक प्रतीक्षाञ्चक्र । निर्भयमायान्त सुदर्शन विलोक्य हृष्टमना विकल्पयितु लग्न—अहह ! आगच्छति कश्चिन्मम प्रतिज्ञा पूरयितु प्रथम पिण्ड[2] । अन्या श्चर्यमिदम् !! यत्प्रायोऽज्ञातपरासनरहस्या[3] हि जना मत्सामीप्य मासेवन्ते अन्धा इव च मरणाधकूपे निपतन्ति । अद्य तु विदित विश्ववृत्तान्त इव मुमूर्षु कश्चिन्मम सम्मुखीनो वर्वर्ति । हन्त ! अक्षतनिर्यविधि क पार प्राप्तु पारयेत् ? पतितोऽप्यजगर कुक्षिम्भरि

---

१ विरन्तुमिच्छा । २ पिण्ड-ग्रास ।
३ परासनम्—हननम् ।

भवेत्। केवलामिषभोजनव्रतोऽपि केसरी प्रतिघस्रं घस्मरः स्यात्। मुक्ताफलचर्वणचलच्चञ्चूना विशदवशाना कलहसानामपि तर्पणं करोहत्य[1] जायते। अहो! जनार्दनपराक्रम मा यद्यपि जानीते जग तथापि सार्धपञ्चमासा व्यतीयु प्रत्यग्रा सप्तव्यक्तयो मम सकाशात् कृतान्तकवलता कलयन्त्येव।"

उम्!! उपोद्घानमाप्तोऽय मृतप्राय। कीनाशदेश प्रेषयाम्येन-मधुनैवेति निश्चिन्वन् मुद्गरमावर्त्तयन् अधीराणा धृति विधुरयन् दधावे।

सहायुध दानवमिव धरित्र्या यावमानमर्जुनमालोक्य गोपुरस्था सर्वेऽपि भयद्रुता अजनिषत। हा! हा!! क्रोडीकृतोऽय[2] प्रियदर्शन सुदर्शन श्राद्धदेवेन[3]। अविलम्बितमस्य जीवन लम्बमध्वानमालम्बिष्यते। पापिष्ठमालाकार[4] कुत्रापि समय नहि वेवेक्षि? स्वौद्धत्येन सर्वत्र साम्यमापादयसि? कीदृशानि कीदृशानि नररत्नानि च प्रत्नेन्द्रिय[5]-मन्दिराच्च्यावयसे? अनारेकणीया[6] खलु निर्विवेकाना प्रवृत्ति। सुधीस्तु प्रतिपद सदेरिव किमपि विधातुम्। नहि मातृमुखाना सम्मुखे वैदुष्य वीर्य कौशल च दर्शनीय कदापि निपुणै। ग्रामटिका-निवासी जडाकृतिर्जन कि जानाति प्रस्फुरत्पाटव विदुषा विद्यावै-लक्षण्यम्! पाटलवाटिकाया प्रविष्टोऽपि चक्रीवान्[8] किमु नामोद-मोदमुदास्ते? कदलीकानने कृतावासोऽपि करभ किमु रम्भावलम्भन-प्रागल्भ्य वरणेत्?

अंक्षिप्ट सुदर्शनोऽपि मुद्गरमुल्लालयत साक्षात् कृतान्तनृत्त नाटयतोऽर्जुनस्यागमनम्। सत्वर तत्रै वोर्ध्वदमो भूत्वा निर्भय-भावनया विभावयितु लग्न—"आगादय रोषपरवशो दयनीयदशो जनान् तर्जयितुकामोऽर्जुन, किन्तु नहि व्यापादयितु शक्यते क्षुधा दारुण कोवदानव। वष्टि स इन्धनसङ्घातेन कृष्णवर्त्मन शमन यो विरोध प्रतिशोधेन प्रशामयितुमिच्छति। नहि कण्डूतिकरणेन साम्यमापाद्यति पामा। प्रतिकूलेन धर्मेणाऽनुकूलनीय प्रतिकूल वस्तु,

---

१ मनोहृत्य। २ नव्या।
३ उर्मिति रोपोक्तौ। ४ आलिङ्गित।
५ यमेन। ६ प्राचीनशरीराद्।
७ असम्भवनीया। ८ मूर्खाणाम्।
९ गदभ।

नहि तदनुकूलेन। जलमेवानल शीतीकर्त्तुमलम्। वश्वानरो हि शत्य शातयितु शक्त। क्षमैव कोपगदस्योत्कृष्टमौषधम्। सत्य मुक्तमेकेन नीतिज्ञेन क्षमव परम प्रतिशोध। क्षमा शूराणामल ङ कृतिर्नाश्र कातराणामधिकार। अत एवाहमपि क्षमावर्मितो भूत्वा रचनात्मकोपदेशनैव रोषमस्य शेषदशा नयामि नहि वागुपदेशस्या ऽवसर साम्प्रतम। इति ध्यात्वा तत्कालमेव करौ कुड्मलीकृत्य भग वन्त महावीर प्रभु प्रणम्य व्यजीज्ञपत भगवन ! त्रिकालदर्शिन् ! त्वद्दर्शन विधित्सुरह वाह्योपसगमभिमुखमासाद्य त्वच्छ्रादमत नहि यावत् त्वत्साक्षात्कार कुर्वे तावत्कालमभिव्याप्य क्षणभङ गुरमङ्गमिद व्युत्सजामि चतुर्विधाहारमपि प्रत्याख्यामि सर्वाऽसुमद्भि सह मैत्री च सूत्रयामि। त्रिजगत्पते ! अद्य व मम परीक्षावासरो ल धा वसर। कृपार्णव ! वितरेदृशीममोधशक्ति यथाह जगता पुरत प्रोन्न तक धर स्थितिमाप्नुयाम आर्हताना महदादश दर्शयेय प्रकटयेय च तव सर्वातिशायिमहिमानम्। अनन्तशक्तिधर ! छात्राणा परीक्षो त्तीर्णता भवत्यध्यापकानामपि महत्त्वप्रदर्शिनी। जायते सैनिकाना विजये हि सेनापतेर्विजय। पुत्रस्य श्लाघा हि पितर श्लाघते। अमन्दानन्दमय ! तव कृपापीडमिल मौलिरह नितान्तनिर्भयोऽस्मि वासनानिर्वासमेन पूर्णसुहितोऽस्मि त्वच्चरणारमापणतया चाऽत्य न्तसुखितोऽस्मि। अयि धैर्यधौरेय ! त्वदुपदेशामतप्रीणिताना ध्यान क क्षोभयितु क्षम ? त्वच्चरणकमलचञ्चरीकाणा चित्त कश्चाल यितुमलम् ? इत्थ स्वान्तपरिणति विशदयन् रत्नसानुरिवाऽकम्प्रपद समाधिस्थयोगीन्द्र इव निमीलितनयनयुगलस्तत्र वोत्तस्थौ।

इति श्रीचन्दनमुनि विरचित आजु नमालाकारे गद्यकाव्ये भगवदागमन
सुदर्शनस्य दर्शनाय सज्जीभवन पित्रोर्निवारण पुत्रस्य
प्रत्युत्तरण केषाञ्चित्सभ्यजनमपहसन सुदर्शनस्याभि
तोऽजु नस्य धावन ध्यानस्थिरयवलम्बन चेतिमत्य
वर्णनमाविभ्राणश्चतुर्थ समच्छ वास

---

१ मन परिणाम।

पञ्चमः समुच्छ्वसः

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ?

—(भवभूति)

अहह ! सप्तस्वपि भयेषु मरणभयं भयङ्करमनुभवन्ति भूमिस्पृशः । आकर्ण्यापि कर्णाकर्णिकया कस्यचिन्मरणवृत्तान्तं हिमानीकम्पं कम्पन्ते जनानामन्तःकरणानि । अस्यागच्छतस्य सर्वा अपि आशा आशा[1] इव शून्यतां सेवन्ते । सर्वेऽपि कल्पितमनोरथा अत्रैव तल्पशयाना जायन्ते । विश्वजिष्णूनामत्रैव शोश्रूयते पराजयडिण्डिमः । परन्तु ये मृत्योरपि न बिभ्यति, कालस्याग्रतोऽपि नहि वैकल्यमाकलयन्ति, तेषां वीरोत्तमानां क्व भयम् ? क्व तेषां निरीहाणां पराभवसम्भावना ? अस्तु, कूटस्थनित्यमिव स्थेमानमाभजानं विनिर्गताऽऽतङ्ककलङ्कं शशाङ्कमिव क्षरत्कारुण्यामृतवर्षं सुदर्शनं दर्श-दर्शं नेदिष्ठमागतो गर्जन्नर्जुनश्चेतसीदं व्यचिन्तयत्—"अहो ! नाद्राक्षमेतादृक्षं विक्रान्तकोटीकोटीरायमाणं मर्त्यमहम् । यो ममाग्रतोऽपि त्रोटितभयमुद्रां ध्यानमुद्रां निश्चलमवलम्बते । धावनक्रन्दनादिकथा त्वास्तां दूरेण, वैवर्ण्यमपि नहि वृणुते वताऽस्य वदनारविन्दम् । विलक्षणोऽयमनुष्यः, विलक्षणमस्य शैलस्पर्धि धैर्यम्, चित्रणीयाऽस्य सहिष्णुता, प्रशंसनीयाऽस्य तल्लीनता, विलोकनीयाऽस्याऽलौकिकी च स्थितिः ।

---

[1] दिश इव ।

आ ! किमयं स्थाणुरुत पुरुषः ? नरो वाऽथ नाकी ? चेतनो वाऽथ जडः ? हन्त ! नहि किमपि निश्चेतुं शक्यते । अन्ये त्वन्यदा दारुणा कृतिं दूरतोऽप्यभिमुखीनमावलय्य मा कान्दिशीकतां दर्शयन्ति । मा मामीमर मा मामीमर इत्युच्च पूत्कुर्वन्तश्च मृतप्राया मिलन्ति । कतिचन मां निभाल्य क्रोधोध्माता ग्राविश्नमिषवो[1] मयि स्वबलावलेपमुद्वहन्तः सायुगीनता[2] व्यञ्जयन्ति । अपरे मद्गर्जना मारादेव[3] कर्णातिथियन्तो यमस्याऽतिथ्यं चाद्रियन्ते । किं जातमद्य ? प्रत्यह जाजायमाना घटना समूलं वैपरीत्यमनुधावन्ति । अहो ! अस्य मुख न क्रोध न भयं न दैन्यं न दम्भं च यनक्ति। किन्तु प्रमाऽऽसार धाराभिः मद्रोषदावं शीतीकर्त्तुमुत्सहते । अरे ! रे !! अपसर अपसर याहि-याहि अलं तवाधुना बकध्यानेन । शतशस्त्वादृशा भक्ता मृत्युतीथं मवतारिता अमुनाऽञ्जनेन । इत्थं साऽन्तजल्पं बहु विकल्पयन् स पापी यानं तदानीमेव सुदर्शनविग्रहं परासुं दिदृक्षं कृपाकृपणाभ्यां कराभ्यां मुद्गरमुदतूतुलत ।

भव्याः ! कस्तं चालयितुं क्षोभयितुं मारयितुं वा प्रभवस्य धर्ममहाराजो जागरूको रक्षायै बद्धलक्ष्यो विराजते । धर्मकल्पतरोश्छायायामासीनाना नराणां दुःखानि वैमुख्यमाख्यान्ति । सुखानि सान्निध्यमध्यासते । हृषः प्रकर्षमियर्ति । विषादो बाधामासादयति । सम्पदः प्रतिपदं परिष्वजन्ते । विपदो नास्पदमास्तिघ्नुवते[4] । जनाः ! एतादृशं निष्कारणकरुणापरं महारक्षकं सम्प्राप्यापि कथमितस्ततश्शरणमीक्षमाना कृच्छ्रपात्राणि भवथ ? न कथं धर्ममहामहीपस्य चरणे सर्वस्वमुपदीकुर्वन्तो विश्वसथ । त एव मूढा जगति घात्यन्ते पात्यन्ते हन्यन्ते मार्यन्ते च ध्रुवं धर्मशरणमनाद्रियमाणा भ्राम्यन्ति निश्चलमनासेवमानाः प्रगल्भन्ते ।

अस्तु उर्ध्वीकृतगदो जागरूकमदोऽजनो धर्मप्रभावतो भगवदनुभावतो वा नहि गदां निम्नयितुं शशाक । अहो ! वीक्षन्तां क्षणं दक्षाः ! प्रक्षणीयमिदानीतनमहिंसाहिंसयोर्निर्द्वन्द्वं द्वन्द्वम् । इतस्तु मालाकारस्य जगद्ग्रसनोत्सुका कोपाध्मातलोचना निष्कृपं दन्तच्छदौ दशन्ती[5] गृही

---

१ भ्रान्तअश्व कर्त्त मिच्छव ।
२ रणे साधवाम् सायुगीनो रणेसाधुः रिति हैम ।
३ दूरादेव । ४ भतम् ।
५ ष्टिपड त् प्रास्कन्दने भाड पूर्व प्राप्स्यर्य ।
६ दशसञ्जोरपि इति न लोप ।

तकदाग्रहा सविग्रहा हिंसाराक्षसी । इतस्त्रैलोक्येऽपि मैत्री सूत्रयन्ती सत्प्रेमप्रोत्फुल्लनयनाभ्या महदाकर्षणमाक्षिपन्ती जगद्विजयिनी परम-पूता साकारा सुदर्शनस्यार्ऽहिंसा देवी । प्रोच्छलन्ती हिंसाराक्षसी वष्टि दयादेव्या उपरि स्वतन्त्र स्वाधिपत्यम् । अभिलषति च कारुण्यपूर्णा दयादेवी निस्त्रिशहिंसाया समूलोज्जासनम् । काऽत्र विजेष्यते, का पराभविष्यतीति सदिहन्ति दुर्गस्था पञ्चजना । उत, पुष्करावर्त्त-स्याग्रत कियत्काल स्वबलावलेप दर्शयेद्दावानल ? विबुधसेविताया सुधाया पुरस्तात् कियत्काल तिष्ठेद्धालाहलकोलाहल ? अहिंसादेव्या पुरत स्वकीय शौर्य तुच्छता गच्छद् विलोकमाना निर्दयतादानवी समजनि किंकर्तव्यविमुखा । अथ पूर्णशारीरिक-मानसिकशक्त्या गदयाऽऽहन्तु प्रयतमानस्याप्यर्जुनस्य नहि शुम्बमात्रमपि गदा निम्नत्व-मागात्, किन्तु व्यायामविश्रातुरिव करोत्थापिता एव शुशुभे । तदानी विस्मितेन खिद्यमानेन च चेतसा व्यचिन्ति मालिकेन—"कोऽय वृत्तान्त । केय घटना घटिता ? कथमिव मम प्रयत्न फल्गुता वलयति ? प्रथमोऽयमवसरो यन्मम प्रयासो विपर्यस्यति । बत ! बत !! नितान्तमत्-साहाय्यमनुतिष्ठन् मुद्गरोऽपि कथमद्य मया सह शात्रव सोसूत्र्यते ? किमय पञ्चमासत्रयोदशवासरैरेकादशशतैकचत्वारिंशत्सख्याकान जनान् निघ्नान उद्विग्नता गत ? उत, अस्य रक्तपिपासा सौहित्यमाप्ता? आहोस्विद्, अयमपि दयार्द्रीभूतहृदय सभूत ? अरे ! मुद्गर ! चिराय सौहार्द निबध्नन्नपि किमद्य विलक्षणता कक्षीकुरुषे ? त्वयि तु पूर्ण विश्रम्भो मम विलसति । त्वमेव चेत् विश्वासघात विदधासि तदाह क शरण प्रपत्स्ये ? प्रारब्धकर्मणि नहि विश्रान्तिमीहन्ते महीयास ।

आ ! ज्ञातम, भीरुकमेव भीषयन्ते प्रायेण, निर्भयात् पुन समेऽप्या-शङ्कन्ते । अहो ! "देवो दुर्बल-घातक" इति किंवदन्त्यपि चरितार्था-ऽद्य सवृत्ता । मुद्गर ! त्वमेवाद्य निशङ्क वीराग्रणी पुरुषपञ्चानन-मभिमुखीनमभिगम्य चापल्यमुत्सार्य स्थैर्यमाश्रितोऽसि न कथ दैनन्दिन कार्य निष्पादयसि" ? इत्थमान्दोलायितचेता क्रोधाभिमानसपृक्तमति क्रियासमभिहारेण पूर्णतरसा मुद्गर न्यक्कर्त्तुमुदयँस्त, किन्तु दरि-द्रकल्पना इव सर्वा अपि चेष्टा नहि स्वेष्ट जघटिरे ।

---

१ मैत्रीम् २ नरम्

३ दिने दिने क्रियमाण ।

इतो वराभ्यपद्मावरे प्रह्वा निर्मिमाण देवायचरणसरोजे रोलम्बवद् रममाण पञ्चत्वमप्यनाशङ्कमानो योगिराडिव दाढ्य माविभ्राण क्षणान्तर सुदशन परामृशत— अहो ! अद्युनावधि न कथ घातुकेन मद्घातपातक सञ्चितम् ? इयन्त विलम्ब किमित्यालल म्बे शराह ? अवितर्कितप्रवृत्तिभाजो भवन्ति हि हिंसकास्तु । इत्थ समवदधता सुदर्शनेन कारुण्यपुण्ये नेत्र समुद्घाटिते व्यलोकि चोर्ध्वीकृतमुद्गरोऽर्जुन । जाते ह्यहिंसा प्रतिष्ठिते श्रेष्ठिन हृकपाते तत्कालमेवार्जुनवपुर्विरहय्य कम्पमानान्त करण गहीताहिंसापक्षो यक्ष पलायाञ्चक्र । उदञ्चिते वा मरीचिमालिनि कथमिवान्धकार स्थितिमासादयेत ? समुन्नते वा पतद्धारासारे पर्जन्ये किं नाम निदाघो द्राघीयस्तामुद्दीपयेत ? समागते च पक्षिराजे हृककण कियत फटाटोप च स्फोटयेत् ? पलायिष्ट खलु मुखमदशयन्ती हिंसाराक्षसी । पयपूर्यत दिक्चक्रवालमहिंसादेव्या विजयघोषण ।

यक्षावेश विरहितोऽर्जुनो झगित्येव मूर्च्छारोगिवद् भूमौ पपात । रक्तरक्तिमरक्तो मुद्गरोऽपि परपीडाकारिणा सनिश्चित पतनमित्यावे दयन्निवैकतोऽपतत् । क्षमा वा मह्य क्षमा दास्यतीति विचारयन्निव क्षमा शरणीचकार ।

अथ दूरीभूतोपसग परिपूर्णप्रतिज्ञ सदर्शनश्त यक्षावेशशून्य मूल स्वभावमाविष्कुर्वाणमाकलय्य बन्धुत्वमावध्न त्या भाषया भाषयामास भद्र ! किं भूमौ लुठन् परामृशसि ? उत्तिष्ठ पश्य च तवाग्रतस्तव ब धुरुद्धन्दमोऽस्ति । अजन ! क्रोध परित्यज क्षमा चाद्रियस्व भ्रात ! त्वया यक्षावेशपरवशेन घन दुष्कृतमाचरितम् । कज्जलश्यामलमयश सञ्चितञ्च ।

एव सुदशनस्य वागमृतेन सिक्त किञ्चित्प्राप्तचैतन्य इवाथाऽर्जुनो वितर्कयति स्म— कोऽहम् ? कुत्रत्योऽहम् ? कुत्रागतोऽहम् ? किं कृत्य मे ? कथमत्रपतितोऽस्मि ? शनै शनैर्व्यपगतमदिरो मादमानववत् स्वकीय नामकार्यादिक संस्मरन् षण्णा नरापसदाना बन्धुमत्याश्च वधमाध्यायन् प्रतिदिन सप्तजनव्यापादन च चिन्तयन भीत इव जज्ञ । नूनमय कश्चिन्नरपुङ्गवो वर्तते यो मधुमधुरया वाचा मामुल्लापयति। अस्य महामनसोऽनुग्रहेणैव मदयक्षावेशो शेपतामित । प्रणमाम्येन

---

१ सर्प ।   २ दिङ मण्डलम ।

३ व्यपगतो मदिराया उन्मादो यस्य सचाऽसौ मानवस्तद्वत्

मनस्विनम पृच्छाम्यस्य मन्नुनमयमभियोगादिरयागमनात्मगान् । इत्यालोच्य निद्रामन्थर उद्बोधित स श्रेष्ठिन पादौ प्रणमन प्रास्मन-तया प्राञ्जलिरित्यन्वयुङ्क्त—"क्व वास्तव्या श्रीमन्त ? कानि नाम-क्षराणि पुनीते भवता शुभमभिधेयम ? त्वमत्र पदार्पणम् ? क्वाद्य यियासा ?" इति जिज्ञासया जन ।

तदानी मादवपूर्णया वाण्या श्रेष्ठी प्रत्यूचे—"तात ! नवैर मनिवासो यत्र योम्माकीण । "सुदर्शन" इत्याख्ययाऽऽख्याति मा पुमाम । भगवद्दर्शनार्थं चाह प्रस्थितोऽस्मि । अध्वनि तत्र जिघांसुवृत्ति ममन्यमानेन मया भगवद्ध्यानमारब्धम, तेषामनिर्वचनीयमहिम्ना सर्व-मरिष्ट नष्टम । त्वमपि श्रीस्मृतिरी दशामापन्न ।"

सारल्यतरलित समीचीन तद्वाक् मयमाकर्ण्य मालिकेन पुन पृष्टम्—अहो ! भव्यभक्तिरक्ताना भगवद्भक्तानामपीदृशी नोऽसाक्तरा शक्तिर्विलसति, यदेतेषा सम्मुख अयविचारच्चतुरो महाव्रत्वमकारी यक्षोऽपि भियेव गृहीतदिग्, तदा त्रिलोकीमहितानामनिर्गमहिताना कि नाम कथनम ? हन्त ! यद्दमेवाह्नेवानिना मुधैव गमितो मया ध्या-नेनेहा, इयत्समयपर्यन्त चेद वर्धमान त्रिभुममेविष्येऽहम्' न जाने कियत्साफल्यमप्राप्स्यम् । गतु गत कि शोच्यम ? वर्तमानमेवाऽनुवर्त्त-नीयमिति विचार्य सुदर्शन प्रति क्लेशगद्गदया गिरा अभाषे—"श्रेष्टि-वर्य ! मय्यपि दया निधाय निवेदयतु यत् के सन्ति ते पतितोद्धारप्रवणा महनीयचरित्रा महात्मानो भगवन्तो महावीरा ? यद्दिदृक्षया भवान मरणातङ्कमपि नाऽऽशशङ्के, मादृशे' पशुवृत्तयेऽपि च मानवतामदीदृ-शत् । अभिलषाम्यहमपि तेषा नयनामृत दर्शनम् । सुहृद्वर्य ! कि व्यनजिम मम मन्दमेधसो गर्हास्पदमनुष्ठितम् ? हा ! हा !! मुद्गर-पाणेर्यक्षस्यावेशेन एकादशशतैकचत्वारिंशत्सख्याकान् जनान व्यापाद्य घनाघनादपि कृष्णतरम् अयोघनादपि निकाचितम, वज्रादपि कठोर-तमम्, महारण्यादपि सान्द्रम् विषादपि च कटुकम, निरयेणापि दुर्भोग, पाप समचायि । हा ! हन्त ! नागरिका मह्य क्रुध्यन्ति, मन्नामधेय श्रुत्वापि 'दरमुदीरयन्ति, दुराशिषा निर्भर्त्सयन्ति, कोपकषायितेनाऽक्ष्णा

---

१ पनायित २ स्यदादेरात्मनेपदस्योत्तमपुरुषस्यैकवचनम
३ येषा दर्शनेच्छया ४ चतुर्थी ५ भयम्

मा वीक्षन्ते च । धिङ माम्, धिङ माम् । श्रा ! पापीयसा मया किमपि नाशायि यत् पण्णा नराधमानामागसि जागरिते नागरिकाणा किमाग प्राग्भार ? वत ! बत ! कतिचन पयपासनीया वर्षीयास भविष्यो ज्ज्वला दुग्धमुखा बाला कायभारवोढारो युवान मातृवत्पूजनीया अब लाश्च श्रोधा घलेन मया दण्डधराय प्राभृतीकृता । अथवा रक्तद्विष्टाना देवाना सेवया न कथ सेवका रागरोपाकुला स्यु ? कारणानुरूप हि कार्यमुद्भवति कात्र विचिकित्सा । वीतरागपयपासी सवत्र समदर्शी निर्मलाचारी भवान् समस्तर्नागरिकैर्बन्धुतया बिलोक्यते प्रमपूतया च दृष्ट्या सतक्रियते । उताहो कि चित्रमत्र ? येन कारुण्यपुण्यमेवोप देशामृत नितरा निपीतम् कातरता कत्तयन्ती वीरतामीरयन्ती मुद्रवो च्छिद्रमालोकिता सवत्र साम्य सूत्रयन्ती वर विधुरयन्ती च शिक्षव सतत निशमिता ।

श्रस्तु परोपकारपरायण ! मामेव वीरोपकण्ठ नयतु अधमोद्धार–तत्परा तन्मूर्त्ति ममापि दशयतु तदुपदेशपीयूष च पाययतु । गुणिशे खर ! भगवद्दशनाथ भवान अस्यामाशायामागत इत्यह न मन्ये किन्तु मामेव प्रतिबोधयितुमना इह कृतागति इत्येव निणये ।

गुणज्ञ ! भवदनुग एवाह सुरासुरगमनागमनसङ्कुलम विराजमान साधुसन्दोहभास्वरभूतलम तातप्यमानभूरितपस्वितपसोद्दिप्ततेजस्कम् येप्रीयमाणध्यानावलम्बितबाहु-वाचयमविशुद्धवातावरणम् त्रिलोकी पतिपवित्रित तत्स्थल प्रवेष्टमल भविष्यामि । अ यथा मादृशमातत यिन तत्र क प्रवेशयिष्यति ? भवत्सङ्गमेन ममापि श्र य संवत्स्यति । निम्नभूभागमध्युषितमप्यम्भो गुणिघटेन सह उच्चैर्गतिमासादयति । पावनगुरुचरणसरोजसस्पृष्टा धूलिरपि मानवाना मौलीनलङ्कुरुते अतोऽधुनैव भवतु प्रष्ठो[५] भवान् भवाम्यहमनुगामी भवताम् ।

आयदेवार्याणामतितरा तस्य दशनचिकीर्षा म वानेन सुधयेव सिञ्चता सुमानीव वषता च सुदर्शनेनाभाणि— भद्र ! अल विलम्बेन तत्र जिगमिषु त्वा क प्रतिरोद्धु प्रभ ? तेषा परोपकृतिपण्डिताना महावीराणामहर्निशमुद्घाटित द्वार वर्त्तते समेषा जगज्जन्तूना कृते ।

---

१ अपराधे २ वृद्धा ३ सदाय
४ शमोऽदर्शने अन्यत्रदर्शने श्रेथ ह्रस्व इति मनाश्रयणात् ।
५ अग्रगामी

तत्र गन्तु धनाढ्याना-ग्रकिञ्चनाना, भूभृता-रङ्काणा, ज्ञानिना-ग्रज्ञानिना, धार्मिकाणा-ग्रधार्मिकाणा, कुलीनाना- ग्रकुलीनाना, सुखिना-दु खिना, सुमनसा-तिरश्चा च तुल्याधिकारोऽस्ति। ग्रात ! निजाचीर्णान्यधमाधमानि कृत्यानि स्मार-स्मार कि खिद्यसे ? तत्र दु साध्याना-मप्यामयाना प्रतीकार सम्भवीति। देवानुप्रिय ! मन्तूंस्तु जन्तुर्जनयत्येव नात्र नवीन किमपि। वरेण्य त्विदमेव गण्य यद्दोषा दोषरूपतया विज्ञाता स्यु, चेतस्तान्निराकर्तुं च चेष्टेत। तदेहि, तत्राऽञ्जा गच्छाव।"
इत्थ परस्परमालपन्तौ तस्या दिशि प्रचलेतु।

इति श्रीचन्दनमुनि विरचित ग्रार्जुनमालाकारे गद्यकाव्ये सुदर्शनस्य
मारणाय मालिकस्य मुद्गरोत्तोलन, श्रेष्ठिनो दृक्पाताद्
यक्षस्य तिरोभवन, श्रेष्ठिना सहार्जुनस्य प्रभुदर्शनार्थ-
गमन—चेत्यादिवर्णनात्मकोऽय
पञ्चम समुच्छ्वास

मा वीक्षन्ते च । धिङ् माम धिङ् माम् । आ ! पापीयसा मया किमपि नाज्ञायि यत् पण्णा नराधमानामागसि¹ जागरिते नागरिकाणां किमाग प्राग्भार ? वत ! वत ! कतिचन पर्युपासनीया वर्षीयास भविष्यो ज्ज्वला दुग्धमुग्धा बाला कार्यभारवोढारो युवान मातृवत्पूजनीया अब लाश्च क्रोधान्धलेन मया दण्डधराय प्राभृतीकृता । अथवा रक्तद्विष्टाना देवाना सेवया न कथ सेवका रागरोषाकुला स्यु ? कारणानुरूप हि कार्यमुद्भवति कात्र विचिकित्सा² । वीतरागपर्युपासी सर्वत्र समदर्शी निर्मलाचारी भवान समस्तैर्नागरिकैश्च धृतया विलोक्यते प्रभपूतया च दृष्ट्या सतश्रियते । उताहो किं चित्रमत्र ? येन कारुण्यपुण्यमेवोप देशामृत नितरा निपीतम्, कातरता कसयन्ती वीरतामीरयन्ती मुद्रवो न्निद्रमालोकिता सर्वत्र माम्य सूत्रयन्ती वर विधुरयन्ती च शिक्षव सतत निशमिता ।

अस्तु परोपकारपरायण ! मामेव वीरोपकण्ठ नयतु अघमोद्धार-तत्परा तन्मूर्त्ति ममापि दर्शयतु तदुपदेशपीयूष च पाययतु । गुणिशे श्वर ! भगवद्दर्शनाथ भवान अस्यामाशायामागत इत्यह न मन्ये किन्तु मामेव प्रतिबोधयितुमना इह कृतागति इत्येव निर्णये ।

गुणज्ञ ! भवदनुग एवाऽहं, सुरासुरगमनागमनसङ्कुलम विराजमान साधुसन्दोहभासरभूतलम तातप्यमानभूरितपस्वितपसोद्दिप्ततेजस्कम्, पेप्रीयमाणध्यानावलम्बितबाहु वाचयमविशुद्धवातावरणम् त्रिलोकी पतिपवित्रित तत्स्थल प्रवेष्टमल भविष्यामि । अन्यथा मादृशमातत यिन तत्र क प्रवेशयिष्यति ? भवत्सङ्गमेन ममापि श्रेय सवत्स्यति । निम्नभूभागमध्युषितमप्यम्भो गुणिघटेन सह उच्चैर्गतिमासादयति । पावनगुरुचरणसरोजसस्पृष्टा धूलिरपि मानवाना मौलीनलकुरुते अतोऽधुनैव भवतु प्रष्ठो³ भवान मवाम्यहमनुगामी भवताम् ।

आर्यदेवार्याणामतितरा तस्य दर्शनचिकीर्षां मन्यानेन सुधयेव सिञ्चता सुमानीव वषता च सुदर्शनेनाभाणि— भद्र ! अल विलम्बेन तत्र जिगमिषु त्वा क प्रतिरोद्धु प्रभु ? तेषा परोपकृतिपण्डिताना महावीराणामहर्निशमुद्घाटित द्वार वसते समेषा जगज्जन्तूना कृत ।

---

१ अपराधे २ वृद्धा ३ सशय
४ शमाऽदर्शने अन्यत्रदर्शने अेव लक्ष्य इति मनाश्रयणात् ।
५ अग्रगामी

सुदर्शनमथ प्रवाहेण भूतल पल्वलयन्तौ प्रतिक्षणमागन्तुकजनाना सकाशात् तद्वृत्तान्तपृच्छनप्रह्वौ क्षणाद्धर्षं क्षणाच्छोक अनेकविचारधाराभिराविर्भावयन्तौ सुदर्शनस्य मातरपितरौ गृहे कथकथमपि समय यापयाञ्चक्रतु ।

तावत् क्षणादेव महानन्दकरसन्देशाभिनन्दित पफुरयमानान्त - करण कतिपयनागरजनमुखोत्थितो मङ्गलमयो महाध्वनिर्मातापित्रो कर्णकोटरे प्रविष्ट । "शुभ-शुभम्, मङ्गलम्-मङ्गल, कल्याण-कल्याणम्, भद्र-भद्रम् । गत-गतमरिष्ट नगरस्य । चिरेण नगरमस्तकस्था सघनाऽऽपद्घनाघनपटली वीरदर्शनभक्तिवात्यया प्रतिकूल प्रेरिता विलीनेदानीम् । न यदुपलिङ्ग[1] चातुरङ्गिकसेनासमन्वितेन श्रीमता श्रेणिकेन राज्ञा प्राणामि, तदेकनैव वीरदर्शनोत्सुकेन वीरभक्तेनाऽप्रहरणपाणिनाऽपि निर्द्वन्द्वमुपशमितम्, पुनरहिंसाया साकार चित्रमुपढौकित जगता पुरस्तादऽनेन वस्तुवृत्या", इत्याम्रेड्यमान हर्षोत्कर्षितयोच्चकैर्जेगीयमान बहुजनोदित तुमुलमिवाकर्ण्य सुदर्शनस्य पितरौ कर्णयोराकृष्टाविव- "किमिदम् ? कुत इदम् ? कथमिदम् ? सुदर्शनस्याभिधेय श्रुतिपटमुट्टङ्कयति ?" इत्य वावदूकौ गृहाद ससभ्रम बहिरागतौ परीपृच्छ्येतेऽद -"भो ! भो ! भद्रा ! किमद्भुतमद्यनगरे जागर्ति यदियान् कोलाहलो लोके समुल्लसनितराम्?"

आगन्तुक कश्चित्—नज्ञायते भवद्भ्यामद्यावधि किमिदमपि, भवदन्वयदिवाकरेण यदद्भुतमाचरितम् ?

पितरौ—नहि, नहि, ब्रूहि भद्र ! कर्णामृत पायय ।

आगन्तुक —ओ ! असाव्यमवसितमपि साधुतया माधित भवत्पुत्रेण ।

हर्षपरवशतया पितरौ—विशकलय्य[2] जल्प भ्रात ! शक्नुवो-यथाऽऽवामप्यवसातुम्[3] ।'

तावदनेके दुर्गस्था जना धावमाना सुदर्शनस्य वेश्म निविशमाना "विजयता सुदर्शनो विजयता सुदर्शन" इत्याम्रेडयन्त[4] 'जनकात्पूर्णानक[5]'

---

१ यदुपद्रव २ विस्तार कृत्वा
३ ज्ञातुम् ४ पुन पुनरुच्चारयन्त
५ पूर्णपात्र वस्त्रमाल्यादि,
यथा—उत्सवषु सुहृद्भिर्यद् बलादाकृष्य गृह्यते ।
वस्त्रमाल्यादि तत्पूर्णपात्र पूर्णानक च तत् ॥ इति—हैम

षष्ठ समुच्छ्वास

चिन्त्यो न हन्त ! महतां यदि वा प्रभावः

—(सिद्धसेन दिवाकर)

भगवन् ! तवानन्तवीर्यं विभात्यनन्तचतुष्टये । वचनातीतविषयं तव गौरवम्। त्वद्ध्यानकुशला हि योगिनो न क्षुधा क्षुभ्यन्ति न तृषा त्रस्यन्ति न शैत्येन कम्पन्ते न तापेन क्लिश्यन्ते घोरां तपश्चर्यामाचरन्तः परमानन्दसुखास्वादं च सेवन्ते । त्रिजगत्पते ! त्वयि तन्मयतामातन्वाना स्तनुभृतस्तत्कालमेव दुरधिगमां त्वत्तुल्यकक्षां लभन्ते । विलक्षणं तव सौजन्यं सर्वेभ्योऽप्यन्यदेवेभ्योऽतिरिच्यते । सर्वदर्शिन् ! गतोऽस्मावयोः कालेयखण्ड प्रेयान् सुपुत्रः सद्दर्शनस्तवदर्शनार्थम् । परमेष्ठिन् ! बहु निषिद्धमावाभ्यां घातुकाज्जनभीतिभीताभ्यां तत्र गन्तुम् परन्तु स तु त्वयि पूर्णश्रद्धेयतामादधानोऽस्मद्वचनेन समं समवर्त्तिसाध्वसमप्य नादृत्य निःशङ्कं त्वत्पूतां दिशमनुससार । देव ! शक्षाव किमावां पुनरपि तद्वदनकमलं द्रष्टुम् ? विनयविनतां तत्कन्धरां स्प्रक्ष्यति किमु तावयोः क्रमयुगलम् ? विन्यस्तो भावी किमावयोः सव्येतरकरः स्निग्ध केशवेशविलसिते तन्मस्तके ? श्रोष्याव किमुत पीयूषस्रवन्तीं सलिलवत्सरलां च तन्मुखसरस्वतीम् ? त्वच्चरणकमलकृपया नूनं मङ्गलमाकलयिष्यत्यस्मत्तनुजस्तथापि प्रेमपरिप्लुतं हृदयं नहि स्थास्नु भवति भगवन् ! —इत्थं भक्तिमोहमिश्रिता विविधकल्पना कल्पयन्ती स्मारं-स्मारं

---

१ मृत्युभयमपि २ दक्षिणहस्त
३ स्थिरम

सुदर्शनमश्रु प्रवाहेण भूतल पल्वलयन्तौ प्रतिक्षणमागन्तुकजनाना सकाशात् तद्वृत्तान्तपृच्छलप्रह्वौ क्षणाद्धर्ष क्षणाच्छोक अनेकविचारधाराभिराविर्भावयन्तौ सुदर्शनस्य मातरपितरौ गृहे कथकथमपि समय यापयाञ्चक्रतु ।

तावत् क्षणादेव महानन्दकरसन्देशाभिनन्दित पफुल्यमानान्त -करण कतिपयनागरजनमुखोत्थितो मङ्गलमयो महाध्वनिर्मातापित्रो कर्णकोटरे प्रविष्ट ।"शुभ-शुभम्, मङ्गलम्-म ङ्गल, कल्याण-कल्याणम्, भद्र-भद्रम् । गत-गतमरिष्ट नगरस्य । चिरेण नगरमस्तकस्था सघनाऽऽपदघनाघनपटली वीरदर्शनभक्तिवात्यया प्रतिकूल प्रेरिता विलीनेदानीम् । न यदुपलिङ्घ्[1] चातुरङ्गिकसेनासमन्वितेन श्रीमता श्रेणिकेन राज्ञा प्राशामि, तदेकनैव वीरदर्शनोत्सुकेन वीरभक्तेनाऽप्रहरणपाणिनाऽपि निर्द्वन्द्वमुपशमितम, पुनर्राहिंसाया साकार चित्रमुपढौकित जगता पुरस्तादनेन वस्तुवृत्या", इत्याम्रेड्यमान हर्षोत्कर्षितयोच्चकैर्जेगीयमान बहुजनोदित तुमुलमिवाकर्ण्य सुदर्शनस्य पितरौ कर्णयोराकृष्टाविव-"किमिदम् ? कुत इदम् ? कथमिदम् ? सुदर्शनस्याभिधेय श्रुतिपटमुट्टङ्कयति ?" इत्थ वावदूकौ गृहाद् ससभ्रम बहिरागतौ परीपृच्छ्यैतेऽद -"भो ! भो ! भद्रा ! किमद्भुतमद्यनगरे जार्गति यदियान् कोलाहलो लोके समुल्लसनितराम्?"

आगन्तुक कश्चित्—नज्ञायते भवद्भ्यामद्यावधि किमिदमपि, भवदन्वयदिवाकरेण यदद्भुतमाचरितम् ?

पितरौ—नहि, नहि, ब्रूहि भद्र ! कर्णामृत पायय ।

आगन्तुक—ओ ! असाध्यमवसितमपि साधुतया साधित भवत्पुत्रेण ।

हर्षपरवशतया पितरौ—विशकलय्य[2] जल्प भ्रात ! शक्नुवोयथाऽऽवामप्यवसातुम् ।[3]

तावदनेके दुर्गस्था जना धावमाना सुदर्शनस्य वेश्म निविशमाना "विजयता सुदर्शनो विजयता सुदर्शन" इत्याम्रेडयन्त[4] जनकात्पूर्णानक[5]

---

१ यदुपद्रव २ विस्तार कृत्वा
३ ज्ञातुम् ४ पुन पुनरुच्चारयन्त
५ पूर्णपात्र वस्त्रमाल्यादि,

यथा—उत्सवपु सुहृद्भिर्यद बलादाकृष्य गृह्यते ।
वस्त्रमाल्यादि तत्पूर्णपात्र पूर्णानक च तत् ॥ इति—हैम

झगित्येव जगृहिरे प्रावोचँश्च प्रमोदमेदुरा वाचम्—श्रुत किमुत पुत्ररत्नस्यालौकिक कृत्यम् ? अवगता किमद्यतनी घटिता घटना भवदस्याम् ?

मोमुह्यमानौ पितरौ—नहि पूर्णतया नाकर्णिता।

आगन्तार—श्रूयता तर्हि सकर्णमश्च तपूर्वो वृत्तान्त ।

उत्सुकतया पितरौ—वाच्य-वाच्य सविस्तर सर्वमविलम्बितम् । पारिपार्श्विका अपि बहवो दमदमिकया सुदर्शनस्यालये सम्मिलिता । नव्यघटितकथाश्रवणतत्परतया सर्वेऽपि तुष्णीमाभेजु ।

तेषा विदितवृत्तानामेको वाकपटुर्ब्रवीति—भगवत्साक्षात्काराय जिगमिषया सुदर्शनेन सम वयमपि कौतुकनिरीक्षणदक्षतयाऽनुग प्रयाता ।

जनक—आम्-आम् अग्र वाच्यम्-अस्याम वय तु तत्रैव एका क्येव वीराग्रणीर्भवत्पुत्रोऽग्र चचाल ।

अन्तराल एवाम्बा—भो ! भो ! मतपुत्रस्य मुखे तदानी कापि भयरेखा तु नासीत् ?

वक्ता—अलमुदितेवेदम् भीरुकाणा तत्र गमनस्य क्वाऽवकाश ? ते त्वत्रैव पतिता म्रियन्ते ?

माता—बाढम्-बाढम् निवेदयाऽग्रे ।

वक्ता—नि शङ्कमायान्त तमवलोक्य स पापीयानर्जुनो मुद्गरमुत्तो ल्याभिमुख दधावे ।

सरोमोद्गम माता—तदानी मदङ्गजेन किमनुष्ठितम ?

वक्ता—तत्कालमेव भगवद्ध्यानमारब्धम् ।

सर्वेऽपि पार्श्वस्था—हन्त ! हन्त ! तस्मिन समये भगवद्ध्यानम ! धन्योऽय नरपुङ्गव धन्यास्य प्रसू धन्यमस्य च धर्यम् ।

सवाष्पक्ष प माता—तत तत किमभूत् ?

वक्ता— भगवता प्रभावत स मुद्गर मोटयितुमपि न चक्षमे ।

माता—एवम् ।

पार्श्वस्था सर्वेऽपि—धन्यो भगवतामनुभाव अतएवते प्रत्यह मर्हन्तमर्हयन्ति सभक्त्या ।

पिता—तदनु का घटना जघटे ?

वक्ता—मुद्गरेण सहैव स भूमौ पतित ।

माता—अहो ! स भूमौ पतितवान् ? न वेद्म्यहं तु मच्छिशावपीदृक्षाऽगम्या शक्ति पोस्फुरीति ! अस्तु, पश्चात् ?

वक्ता—न जाने ताभ्यां मिथ किमालपितम्, तेनाऽन्वीयमाननिगमो[1] भवत्सूनुर्भगवद्दिशि प्रतस्थे ।

इति विलोक्यैव वयमत्यन्त हृष्टमनसो वृत्तान्तममु प्रचिकटयिषव[2]स्तत्क्षरण नगर्यामागता ।

इति सकुशलनन्दनवार्तामधिगत्य जननीजनकौ परमा मुदमापेदाते । धन्यवादपुरःसर तान् जनान् विसृज्य भगवता तनयस्य च साक्षात्काराय कृताभिलाषौ धार्मिक यानप्रवर सज्जीकर्त्तुमाज्ञाशिष्टाम् । धनगर्जेव प्रवृत्ति समस्तेऽपि पत्तने प्रसृमराऽभूत् । सर्वेषां सुधियां मनश्चत्वरेषु विविधचारुभावाञ्चिता सुदर्शनस्य कीर्तिनर्तकी नरिर्तति स्म तदानीम् । प्रजाऽऽखण्डलोऽप्यवगत्य वृत्तमिद निरातङ्कं च[3] नगर पुनरपि पूर्यमुद्घोषयामास—"अत ऊर्ध्वं कास्वपि काष्ठासु[4] यदृच्छया गच्छन्तु सुजना नहि कापि 'भीर्जरीजृम्भ्यतेऽर्जुनस्येति'[5]" ।

इतो नानायथार्थतीर्थनाथार्थवादैरर्जुन प्रीणयन्, महापुरुषाणामनुत्तरचरित्राणि व्यावर्णयन्, क्षमाशूराणा तितिक्षादक्षत्वमुद्भावयश्च सुदर्शनो भगवतामभ्यर्णमाजगाम । दूरतोऽप्युदयाचलावलम्बिमार्तण्डमण्डलमिव सपादपीठसिंहासनभासमान व्यपगतशोकैराश्रयणीयोऽयमित्यावेदयन्त्यामिव सन्ततप्रोत्फुल्लाऽशोकतरुच्छायाया विवृद्धच्छायम्, त्रिलोक्यामपीदृक् पारमेश्वर्यं कुत्रापि नास्तीति प्रकटयद्भिरिव छत्रत्रयैर्विलसद्गौरवम् नात्र पदप्यबोधान्धकारप्रसारोऽस्तीत्याविर्भावयतेव विभाजालभासुरेण भामण्डलेन देदीप्यमानोपकण्ठम्, कर्मरजासि सतत धुन्वानाभ्यामिव चाचल्यमानचञ्चच्चामराभ्या वीज्यमानमुखारविन्दम्, आन्तरमलेन सह बहिष्कृतबाह्यमलम्, अस्नातमपिस्नातानुलिप्तमिव कमनीयकान्तिम्, प्रखर

---

१ अन्वीयमानोऽनुगम्यमानो निगमो—मार्गो यस्य स ।

२ प्रकटयितुमिच्छव ।

३ अवगत्य, उभयत्र योज्यम्, चकारस्य समुच्चयार्थत्वात् ।

४ दिक्षु ।   ५ भीति ।

झगित्येव जगृहिरे प्राबोचेंश्च प्रमोदमेदुरा वाचम्—श्रूत किमुत पुत्ररत्नस्यालौकिक कृत्यम् ? अवगता किमद्यतनी घटिता घटना भवद्भ्याम् ?

मोमुह्यमानौ पितरौ—नहि पूर्णतया नाकर्णिता।

आगन्तार—श्रूयता तर्हि सकर्णमश्रुतपूर्वो वृत्तान्त ।

उत्सुकतया पितरौ—वाच्य-वाच्य सविस्तर सवमविलम्बितम । पारिपार्श्विका अपि बहवो दमदमिकया सुदशनस्यालये सम्मिलिता । नव्यघटितकथाश्रवणतत्परतया सर्वेऽपि तुष्णीमाभेजु ।

तेषा विदितवृत्तानामेको वाकपटुर्ब्रवीति—भगवत्साक्षात्काराथ जिगमिषुणा सुदर्शनेन सम वयमपि कौतुकनिरीक्षणदक्षतयाऽनुग प्रयाता ।

जनक—आम्-आम् अग्र वाच्यम्-अस्थाम वय तु तत्रैव एका क्येव वीराग्रणीभवत्पुत्रोऽग्र चचाल ।

अन्तराल एवाम्बा—भो ! भो ! मत्पुत्रस्य मुखे तदानी कापि भयरेखा तु नासीत ?

वक्ता—अलमुदित्वेदम् भीरुकाणा तत्र गमनस्य क्वाऽवकाश ? ते त्वत्रैव पतिता म्रियन्ते ?

माता—बाढम्-बाढम् निवेदयाऽग्रे ।

वक्ता—नि शङ्कमायान्त तमवलोक्य स पापीयानर्जुनो मुद्गरमुत्तो ल्याभिमुख दधावे ।

सरोमोद्गम माता—तदानी मदङ्गजेन किमनुष्ठितम् ?

वक्ता—तत्कालमेव भगवद् ध्यानमारब्धम् ।

सर्वेऽपि पार्श्वस्था—हन्त ! हन्त ! तस्मिन समये भगवद्ध्यानम् ! धन्योऽय नरपुङ्गव धन्यास्य प्रसू धन्यमस्य च धैर्यम्।

सबाष्पक्षण माता—तत तत किमभूत् ?

वक्ता— भगवता प्रभावित स मुद्गरं मोटयितुमपि न चक्षमे ।

माता—एवम् ।

पार्श्वस्था सर्वेऽपि—धन्यो भगवतामनुभाव अतएवते प्रत्यह मर्हन्तमर्हयन्ति सभक्तया ।

पिता—तदनु का घटना जघटे ?

वक्ता—मुद्गरेण सहैव स भूमौ पतित ।

माता—अहो ! स भूमौ पतितवान् ? न वेद्म्यह तु मच्छिशाव-पीदृक्षाऽगम्या शक्ति पोस्फुरीति ! अस्तु, पश्चात् ?

वक्ता—न जाने ताभ्या मिथ किमालपितम्, तेनाऽन्वीयमान-मिगमो भवत्सूनुर्भगवद्दिशि प्रतस्थे ।

इति विलोक्यैव वयमत्यन्त हृष्टमनसो वृत्तान्तममु प्रविकट-यिषव स्तत्क्षण नगर्यामागता ।

इति सकुशलनन्दनवार्तामधिगत्य
पेदाते । धन्यवादपुरसर तान् जनान्
साक्षात्काराय कृताभिलाषौ धार्मिक
प्टाम् । धनगर्जेवेय प्रवृत्ति सनस्तेऽ
मुधिया मनश्चत्वरेषु विविधचारुभावा
नरिनर्ति स्म तदानीम् । प्रजाऽऽखण्ड
च नगर पुनरपि पूर्वमुद्घोपयामास
यदृच्छया गच्छन्तु सुजना नहि कापि

इतो नानायथार्थतीर्थनाथार्थवादै
मनुत्तरचरित्राणि व्यावर्णयन्, क्ष
वयश्च सुदर्शनो भगवतामभ्यर्णमाज
मार्तण्डमण्डलमिव सपादपीठसिंहासन
योऽयमित्यावेदयन्त्यामिव सन्ततप्रो
द्वच्छायम्, त्रिलोक्यामपीदृक् पारमे
यद्भिरिव छत्रत्रयैर्विलसद्गौरवम्
ज्तीत्याविर्भावयतेव विभाजालभाम्
पकण्ठम्, कर्मरजांसि मतत धुन्वा
च्चामराभ्या वीज्यमानमुखारविन्दम्
वाद्यमलम्, अस्नातमपिम्नातानुनिज

तेजसमप्यनुष्णातपम् शिशिरदीधितिमपि कलङ्कविकलम् शैलेशी समीपयशमपि जडिम्ना वर्जितम त्रलोक्यविभुत्वमाश्रयन्तमपि निष्प रिग्रहम् त्यक्तपद्मासनमपि¹ पद्मासनस्थम् भस्माक्षमालाद्यलक्षितमपि परमयोगिराजम् करामलकवल्लोकालोकनाटक विलोकमानमप्यर्थवि स्मितमानसम शान्तिमयम् ज्ञानमयम् महोमयम् गौतमादिगणधर क्रियमाणविविधप्रश्नोत्तरम कल्पनाभिरकल्पनीयम् वर्णैरवर्णनीयम वचनैरवचनीयम् साक्षात्कारेणैव मननीयम् अनन्योपमेय च महा वीर तीर्थेश्वर ददश ।

सम्पन्ने हि स्याद्वादवादिन साक्षात्कारे सुदशनस्य च जात रोमाञ्चकञ्चुकित वपु । उद्वेलितोऽभूत् सहजानन्दसरस्वान् । प्रोत्फु ल्लानि खलु हृदयकमलपत्राणि । आहित सद्भावनया योगत्रिकम् । विस्मृतानि सर्वाण्यपि विहितवमनस्यानि । परित प्रस्फुटिता विशुद्धा वैराङ्गिकी व्यवस्था । मन्दायिता कृत्स्नापि मानसी व्यथा । केवल विभुमयमेव चालोकि ताभ्या विष्टप तदानीम् । तत्क्षणमेव सुदशन पञ्चाभिगमनानि सयोज्य यथास्थानमागत्य त्रि कृत्वो विधिवदाद क्षिणप्रदक्षिणा विरचयन् सविनय नमस्कृति विदधत् कल्याणमङ्ग लादिध्वनिभि साधुवादमुदीरयन् सुखप्रश्न च परिपृच्छन भक्तिपुर सर प्राञ्जलिपुट सानन्दमित्थ प्रार्थयितु लग्न — अयिनाथ ! चातु रङ्गिके चराचरे विश्वे ससरता ससारिणा त्वमेव शरणमसि । अनाथाना योगक्षेमकर्ता त्वमेव नाथोऽसि । अधमोद्धारविरुद त्वमेवा– वहसि । करुणाकर ! त्वत्करुणयैव दुजना सज्जनतामर्जयन्ति । पापिष्ठा धर्मिष्ठता स्पष्टयन्ति । अज्ञानिनो ज्ञानजुषो जायन्ते । मिथ्या त्विन सम्यकत्वमासादयन्ति । नास्तिका आस्तिक्य हस्तयन्ति । त्रिका नज्ञ ! त्वया किमप्यनवसित नास्ति यदस्माभि किञ्चनापि शुभम शुभमाचर्यते । अस्म मनस्युत्पदिष्णव सर्वेऽपि सकल्पास्त्वयि स्फटि कवत् प्रतिभान्ति । अस्मदिन्द्रियग्रामस्योत्पथगामित्व त्वदस्फुट नास्ति । प्रभो ! तथा कामपि सरिणी निर्देशय यथा करणान्त कर णयो वशीकारप्रयोग स्यात् ।

---

१ त्यक्त पद्माया —कमलाया आसन येन निष्परिग्रहत्वात् तथापि विरोधाभासे पद्मासनस्थम् ।

२ भाविनम् । ३ भुवनम् ।

४ इन्द्रिय मनसो ।

हे तीर्थप्रवर्त्तक ! यो मया सार्धमागतोऽर्जुनमालाकार कुदेवार्चकोऽसम्यग्दर्शी विद्यते । कृपालो ! अनेन हिंसाद्यास्रवाऽनभिज्ञेन कुदेवसेवितया रोषपारतन्त्र्येण च निविड पाप्मोचित[1] । पञ्चमासत्रयोत्रदशवासराणि यावद् वशासप्तमा[2] षट् पञ्चजना[3] निःसकोच जीवनाश नाशिताश्च । करुणामूर्ते ! साम्प्रतमय विभोरतिशयेन जागरूककरुण स्वात्मना विरचितादारुणादेनस[4] सकाशाद् वेपते, स्मारस्मार तद् भृश ग्लानिमनुभवति, वष्टि च गर्हिताचरणस्य प्रायश्चित्तमपि । भवगदस्यामोघाऽगदङ्कार ! अस्य मृतप्रायस्य च्युतजीविताशस्य "जीवातुस्त्वदृते कोऽपि नहि जागर्ति जगतीतले । देव ! अतो बद्धसकल्पो दृढनिश्चयोऽय त्वामेव शरण्य मत्वा मया सार्ध समागतवानस्ति । पतितोद्धारक ! अत एवाह प्रार्थयेऽमुमत्राण त्रायस्व, अस्याऽसहायस्य सहायता विधेहि, देहि चास्मै निराश्रयाय चरणारविन्दे पदम् । एतदेवास्ति कार्य भवादृशाम् ।"

इत्थ विनयभारसभृता सत्यामात्मनीना सुदर्शनस्य विज्ञप्तिमाकर्ण्य प्रावृट्पयोदध्वानप्रतानसोदरया नानाभाषापरिणमनस्वभावया भूरिणसयापनोदक्षमया चेतोहारिण्या वाचा वाचयमाना विभु प्रोवाच—"देवानुप्रियाऽर्जुन ! धैर्य धेहि, विश्वसिहि, तुभ्य निर्देक्ष्याम्यह शान्ते पन्थानम् । कुसस्कारवशवदतया प्रायो जायन्ते एवात्मसकाशाद् अकृत्यान्यपि कृत्यानि, तत्कर्तनोपाया अपि चिरन्तना बहुशो विद्यन्ते, ब्रूहि, कि जिज्ञाससे ?"

तावदनेकैर्नागरिकैरहपूर्विकया समागतै विस्मयमाननमानसै स्मयमानाननै परिपूर्णाभूत्तत्रभवता परिषद् । तेषा समक्षे करौ सम्पुटीकृत्य शिशुवत्सारल्यमाश्रयन्नर्जुन सविनय प्रश्नयाञ्चकार—"भगवन् ! किकारणानि[6] दुःखानि ? कारणाना च कुत प्रादुर्भाव ? कथ पुनस्तेषा निरशो नाश ? त्रिकालवित् ! आत्मा कथ पापमुपचिनुते ? कथ तत्र वृत्ति साहाय्यमाददीत ? पापेभ्यो निवृत्ति कथ जायते ? कथ च निर्वृतिमाप्नुयात् ? इत्येव जज्ञासुरयजन, कृपा कुर्वता कृपालव ।"

---

१ पुल्लिङ्गोऽयमघन्त । २ वशा सप्तमी येषाम् ।
३ षड् मर्त्या । ४ पापस्य ।
५ जीवनौषधम् ।
६ कि [illegible]ण-निदान येषा तानि किकारणानि ।

अल्पाक्षरमपि बहुसारगर्भितम् नाह्यवागवर्गणापुद्गलज यमप्य न्तस्तलस्पर्शि विविधभावभङ्गिदिग्धमप्यसदिग्धम् घनरसवदकर्कशमपि मध्यात्वमहाद्रिभेदक्षमम ऐदम्पर्यविलक्षणमपि सम्पक्षकारकादिलक्षणम् साधारणजनवेद्यमपि गूढतत्वम्, सरल सुग्रह, सुमधुर च भगवान् प्रत्युत्तरमपथामास— विलोक्यते चद् वास्तविकतया दु खपरिपूर्णोऽय ससार । ज मजरामरणप्रभृतीनि प्रभूतानि स्पष्टानि कष्टानि । भौतिकसुखा यपि परिणतिविरसत्वात्सुखाभासा येव । ससारिण प्रतिपल दु खदावे दह्यन्ते सासह्यन्ते च विविधाधिव्याधिविसस्थला कृच्छ्रपरम्परा । मुख्यतया दु खकारण तु तृष्णव । तृष्णापि च निदानाना भेदै भिद्यमाना बहुरूपा निरूप्यते तत्त्वज्ञ । यथा केचन विमवाभिलाषिण कतिचन कामभोगकाड क्षिण केचित् पुत्रादिपरिकरकामयितार कतिचनऐश्वर्यमिच्छव इतरे यशोभिलापवा परे सम्मानाऽन्वेषिण अपरे च स्वास्थ्यप्रार्थिन किं बहुना नानावस्तुजातगृध्नुतया तृष्णाऽपि नानारूपेण जनान् दु खाकरोति भ्रामयति खेदयति पीडयति चिन्तयति[1] मारयति च । हन्त [2] इय सवभक्षा तृष्णा राक्षसी कुत्राऽपि तृप्ति नाप्नोति । लाभेऽपि लोलुभा मुख विस्फारयति सुज्ञानऽज्ञानगर्तेऽर्त्तयति विरागार्हान भवरङ्गाङ्गण नर्त्तयति अत्रस्तान् त्रासयति अतष्टान् नाशयति दृढव्रतान् भ्र शयति सुन्दरसकल्पान स सयति धयधौरेयान् ध्वसयति च । यावन्तोऽनर्था ज यन्ते जगत्या ते प्रायस्तृष्णाविस्फूर्जिता एव । ये ये वीरपुरुषान् जुह्वतो महाहवा भवन्ति भूतले ते कृत्स्ना अपि तृष्णातपणायव । ये ये असितन्यायवादा विवादा उद्बुध्यन्ते तेऽपि स्वस्वमनोरथरथाऽऽरोहणायव । ये ये च धमनाम्ना वोभूयमाना उपप्लवास्तेऽपि च स्वार्था षतयैव । अस्तु तृष्णैव दु खकारणम् तृष्णाव कुन्द्व भाजनम तृष्णाव दु खमूलम् येषामुच्चलोच्चयमु मुच्य प्रचलिता तृष्णाचमूरी तथा सवत्रानन्दलहरी परिस्फुरति । तेषामुदासीनवृत्तितया मुदाऽऽसीनाना प्रतिपद निधानानि चकासति । उपेक्षादक्षाणा तेषा सर्वत्राऽपि ब्रह्मसाक्षात्कार. । मानापमानयोर्हर्षविषादयो सुख

---

१ चिन्ता कारयति २ जनै इति कर्मणि प्रत्ययत्वात् भ ध्याहायम

३ जुह्वत जुह्वती जुह्वत प्रथमाया बहुवचनम् कि भूता महाहवा वीर पुरुषान् जुह्वत ।

४ चित्तरूपगिरिम् ५ मगभेदा

दु खयोर्जीवनमरणयोश्चतेषा साम्यम् । अनासक्तिभाजा तेषा जीवतामपि सिद्धिसौख्यलेशोऽत्राप्यवभासते ।

तृष्णोत्पत्तिस्तु पूर्वविहितकर्मसंस्कारजनिता । सम्यग् ज्ञानद्वारा हि तृष्णाया निरशो नाश । यथा-यथा चैधते तृष्णा तथा-तथा देहिन पापवृद्धिरवश्य भाविनी, जाताया च पापवृद्धौ चेतनाऽष्टमृत्तिकाले-पानुलिप्ता तुम्बिकेवाऽधोऽध प्रयाति । आश्रवस्तत्रसाहाय्यमाचरन् स्वभावादुद्गच्छन्तमप्यात्मान भवाऽगाधगर्ते पातयति । पुण्यपापो-त्थिते सुखदु खे चिरमनुभवन् प्राणी चतुरशीतियोनिलक्षेपु कुलालच-क्रवद् भृश परिभ्रमति ।

यदा च सवरेणाऽऽगच्छन्ति कर्माणि सरुध्य पुनर्बद्धानि च निर्ज-रया जर्जरीकृत्य सर्वाणि निरन्वयानि पुण्यपापरूपाणि कर्माणि समूल-काप कषतितमाम् तदैकेनैव समयेन वह्निशिखावद् एरण्डबीजवद् वा स्वभावोर्ध्वगतिर्बन्धनमुक्त सर्वदु खक्षय महोदयमासादयति नूनमात्मा । तत्राजरामरानन्ताक्षयाऽव्याबाधादिविशेषणविशिष्टान्याध्यात्मिक - सुखानि साद्यनन्तभङ्गेनाङ्गीकुर्वन् सर्वलोकमस्तकस्थ शाश्वत सिद्धो भवति ।

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचित आर्जुनमालाकारे गद्यकाव्ये
सुदर्शनपित्रोर्विलपन, पुत्रस्य शुभसन्देशश्रवण, सुदर्शनेन
सहार्जुनस्याभिगमन, नानातिशयाऽतिशयित-
प्रभोरवलोकन, स्तुतिगर्भमर्जुनस्य कथावि-
स्तारण, प्रश्नपृच्छन, प्रभोरुत्तरण
चैत्यादिवर्णनालङ्कृत
षष्ठ समुच्छ्वास

सप्तम समुच्छ्वास

याति घनापि घनाघनपटली खरपवनेन विरामम् ।
भजति तथा तपसा दुरितालि क्षणभङ्गुरपरिणामम् ॥
विभावय विनय ! तपो-महिमानम्

—(शान्तसुधारसे)

अनन्तशक्ति भदात्मा कर्ममलाविलत्वेन स्वरूप विस्मृत्य पर रूपाछन्न सन् स्व शक्तिशून्यमन्वानो भवाटव्या भ्रमति । हरिरिव यदा स्वरूपं प्रत्यभिजानीते तदा जडात्मनामेषा कर्मणा विनाशे को नामातिशय ? द्रष्टा तु नयननैर्मल्यादिगुणसमन्वित स्वय पुमान् तथापि सूर्यालोकमपेक्षत एव तथय कर्त्ता हर्त्ता तु स्वयमात्मैव परन्त्वालोकितात्माना महापुरुषाणा साहचर्यमपेक्षणीयमेव ।

प्रस्तु निशम्याथ चतुरस्रविवेचन विकचम् परिस्पन्दमानोपशमरसौतप्रोतम् विलसदसुच्चप्रशस्यरहस्यविशदम् हृदयपरिवर्त्तनक्षमम् अनवरतनिजाचरिततया विततप्रभावम विभूना वाङ्मय स्फुर्जद्वैराग्यगजनोऽर्जुन परमा शान्ति परमा मुद परमा सविद चावाप । अनुगज यथा केकी धोकूयते तथैव विभुवचनामृत निपीय तोष्टूयमान ससम्मदमित्थ[1] निवेदयामास— पारगत ! त्वदुपदेश पीयूष कर्णेहत्य निपीय प्राप्तचेतनोऽह जगज्ज्वालातो निजात्मान

---

१ सहृयम् ।

मुद्धर्तुकाम भागवती दीक्षा कक्षीकर्त्तुमुत्सहे । पर्जन्यधारासार-जन्यो हि दावानलोपशमो नहि परोल्लक्षघटोदकसेकसाध्य । मादृश-स्याततायिनोऽत्र नह्युणव्रतोररीकरणेन सम्भवि, किन्तु महाव्रता-न्येव मत्कल्पितकल्कानि[1] क्षिप्रमल्पयिष्यन्ति, नात्र सशय । यत्करणीय तद् युगपदेव भावद्रढिम्ना करणीयम् । स्तोक-स्तोक कुर्वता मन्थराणा नहि तादृशाऽऽनन्दोपलब्धि । अतो विश्वतारक ! पतित-पतित अधमाधम नरकगमनार्ह निन्द्यचरितमेन शरणाश्रित करौ धृत्वोद्धर ! देव ! मादृशामुद्धारे हि दीनोद्धारधुरन्धरत्व परमकारुणिकत्व च तवाविर्भावि । उदारचरिताना भवेत् किं कुत्रापि दृग्वैषम्यम् ? विलोकते किमुतासारधाराभिर्वर्षन् उच्चावच स्थल परोपकारी जलमुक्[2] ? आलोकयन्नखिलमपि जीवलोक हेली' नावलोकयेत् किम-वकरादीन् ? परमेश्वर ! त्वया मादृशा अनेके पापीयसा पुरोगा भव-पारावारात्पार प्रापिता । मदुद्धारे तव किं काठिन्य वर्तते ? अतोऽ-ह्नायैव गृहाणाऽन्तेवासितया, देहि द्रागेनमपि मुनिमण्डल्या पदम्, जगद्गर्हणीय जगदर्हणीयता च प्रापय ।" भक्तिशक्तिनिभृता श्रुत्वाऽ-र्जुनस्य विज्ञप्ति पुनरपि स्वयभुवोऽचकथन—"अर्जुन ! त्व मदन्तिके नैर्ग्रन्थी दीक्षा जिघृक्षसि ? साम्प्रतमेषा तव भावना तु निर्भर भव्या, परन्तु प्राक् पूर्णतया पराम्रष्टव्यम् यत्साधुत्वमसिधारावलेहनमिव, गुरुतरायो[4]वीवधम्वासनिर्वहणमिव, शैलशिखरवर्षद्वलाहकसलिलवे-गोत्पाटितकूलाया कल्लोललोलावर्त्तशतसङ्कुलाया शैवलिन्या[5] प्रति-स्रोतस्तरणमिव, सिकथकमयरदनैर्लोहचणकचर्वणमिव, लक्षयोजन-विस्तृतस्य मेरोरङ्गुष्ठयोत्तोलनमिव, नीरसवालुकाग्रासवल्भनमिव, दुर्निर्वह, दुसाध्य, दुष्कर च वर्वर्त्ति । नात्राल्पसत्त्वानामधिकार, ते तु साधुत्वनाम्नैव बिभ्यति, वेपन्ते, पलायन्ते च । इद तु शौर्यपूर्ण वैराग्यरागरक्तै र्भीपणपरीषहजेतृभिर्वीतविषयवासनै पर्युपास्य, ग्राह्य, नेय, श्रेय च ।"

"ये च वाललीलावल्लघु किमपि क्षणिकमावेशमाभेजाना, सयमाय-स्पृहयवुस्ते कामभ्युदीयमाना कष्टपरम्परा वीक्ष्य सयमे शैथिल्यमाव-हन्त श्रान्ता, उद्विग्ना, भ्रष्टा, पथिच्युताश्च जायेरन् । वेषे नहि काऽपि विशेषता वर्त्तते, विशेषता तु वासनाविनाशे, तपस्तल्लीनत्वे,

---

१ मद्विहितपापानि । २ सूय ।
३ मङ्क्षु । ४. "अयोवीवध"—लोहभार । ५ नद्या

स्वतन्त्रमात्ममन्दिररमणं च अत संयममादित्सुना नरेण पूर्व दृढ सकल्पवता भाव्यम्। इत्योजस्विनी वीरता वर्धयमाना वर्धमानस्वामिन शिक्षा कुसुमीकृत्य साहसकमूर्त्तिरर्जुन सावष्टम्भं व्यजिज्ञपत्—
तीर्थेश ! भगवता सूचनाऽभरणं समीचनतामञ्चति। नहि शैशवी क्रीडा संयमस्योरीकृति रित्यहमपि मन्ये श्रद्दधे प्रत्येमि च किन्तु मदीयमन्तःकरणं तु सुदृढ सुस्थिर सुसज्ज सावधान च विभाति। भीरुकभावस्तु पार्श्वतोऽपि नहि परिसर्पति। जगन्नियामक ! मादृशस्य दग्धहृदये क्व दुर्बलता प्राप्नुयादवकाशम् ? कमठ प्रायशो धर्मसलग्नवर्तिर्नहि जातुचिदपि तत्र घटयति शाठ्यम। नाथ ! किं बहु वच्मि ? तव कृपया प्राणानपि त्यक्ष्यामि किन्तु गृहीताभिग्रहात्पदैकमपि नहि चालयिष्यामीतस्ततः। इत्थं तस्य पूर्णवार्द्धं य जानाने जगद्गुरुभिरित्याज्ञप्तम्— यथा सुखं कुरु मा विलम्बस्व'। इत्थं भगवताऽङ्गीकृतोऽमन्दानन्दाऽभिनन्दित सुदर्शनादात्ताचयमोचितोपधि परमशान्तरसस्नात प्रव्रजितुकामोऽर्जुन करौ कुड्मलीकृत्य भगवता सम्मुखमुत्तस्थौ।

गन्धवहेन साधं यथा परिमल प्रसरति वायुमण्डले तथैव कर्णाकर्णिकयाऽर्जुनस्य दीक्षाया शुभसवादोऽपि पत्तने प्रसृत। आकर्ण्य चित्रकरं वृत्तमिदं कुत्रापि द्वित्रा क्वापि पञ्चषा कुहापि सप्नाष्टाश्च जना सभूय स्थिता मिथो निगदन्ति—

अरे ! रे ! श्रुत वा न श्रुतम् ?

पर —किम् किम् ?

पूर्व —यद्याऽर्जुनमालाकार उपमहावीर भागवती दीक्षा भिक्षते।

पर—हु ! हु ! हु ! दुष्टोऽर्जुन ! जगज्जिघासुरर्जुन ! मिथ्या मिथ्या वडवा प्रसूता कस्यचिदसमये।

पूर्व —भो ! प्रत्यक्षे किं प्रमाणम् ? गच्छामो वयमधुनैव पश्यामोऽर्जुनस्य प्रव्रजनम्। इत्थ विवदमाना उत्कलिकतया सत्वरमडि्घ्रपात प्रतस्थिरे भूयो भद्रा। झटिति सकटाऽभूत् तीर्थपसघटा पौरपटलै। मूर्त्तमिव सात्त्विकरस प्रत्यक्षमिवोपशम मालाकार लोक लोक'

१ अङ्गीकरणम्। २ कर्णपूर। ३ परिषद्।
४ जनसमूहै। ५. दृष्टवा-दृष्ट्वा।

ममेऽपि लोका अलौकिकमाश्चर्यमासदन् । अहह ! अचिन्त्यशक्तिभृद्-हिंसादेवी ! ईदृगसम्भवि परिवर्त्तनम् । आततायी नरोऽपि तायी[1] असहनोऽपि सहन,[2] निष्कृपोऽपि सकृपश्च समजनि ।

अथ कृतपञ्चमुष्टिलुञ्चनमर्जुन प्रव्राजयन्तो भगवन्तो यावज्जीव करणत्रिक-योगत्रिकै सर्वान् सावद्ययोगान् प्रत्याख्यापयन्ति । अष्टादश-प्रकारेभ्य पापेभ्यो निर्वर्त्तयन्त समितिपञ्चके गुप्तित्रिके च साव-धानता दर्शयन्त सामायिक चारित्र प्रापयन्ति, दशविधयतिधर्मेषु सुदृढ स्थापयन्तिच । अनगारधर्म प्रतिपद्याऽथार्जुनो मुनि शान्तो दान्तो-ऽकिञ्चनो ब्रह्मचारी कषायमुक्तश्च षष्ठषष्ठेनानिक्षिप्तेन तपसाऽऽत्मान भावयन् चाऽभिग्रह जगृहे—"अत ऊर्ध्वं ये केऽपि परीषहा अनुलोमा-प्रतिलोमा वा उत्पत्स्यन्ते तान सर्वान् सम्यक् सहिष्ये, क्षमिष्ये, ज्ञान-दर्शनचारित्रमये मोक्षमार्गे रममाण सफल समयमतिवाहयिष्ये पुन ।

इति प्रतिज्ञायाथार्जुनमुनिर्विनय श्रुत चाभ्यसन् स्वाध्याय ध्यान च प्रणयन् यदा षष्ठभक्तपारणाय तृतीयपौरुष्या भगवदाज्ञया भिक्षार्थी राजगृह प्रयाति, तदा केचन जना तमवलोक्य विहितविवेकलोपेन कोपेन-परायत्ता जनितप्रियवियोगवृहद्भानुज्वालाजाज्वल्यमानास्तादात्विक[3]-तद्दर्शनाऽविर्भूतविद्वेषा निगदन्ति स्म, सथुत्कारमिदम्—'धिग्-धिग् ! पश्यन्तु पश्यन्तु ! आगतोऽसौ लिङ्गवृत्तिरर्जुन[4] पापीयान् । हन्त ! अनेन दुष्टेन मे परमाह्लादजननी जननी दीर्घनिद्रया[5] विद्राविता ।

अन्य —अरे ! अनेनैव नीचेनास्मदन्वयाऽऽतपत्रायित पिता पञ्चत्व प्रापित ।

इतर —न विज्ञायते किमु हा ! मम परमवत्सलो बाहुतुल्यो भ्रातृ-भानुर्ग्रसितोऽनेनैव राहुणा !

अपर —ओ ! प्रेतवनमिव शून्यमस्ति सदन मनश्च मम प्रेयसी-वियोगादस्यैव दुष्टस्य निःशूकतया ।[6]

पर —बत ! बत ! हन्त ! हन्त ! अनेनैव हतकेन मम गृहमणि[7]रे-काकी प्रेयान ललितालको बालको घातित ! तत्सङ्गशून्यमुत्सङ्ग मम

---

१ रक्षक । २ क्षमावान् ।
३ 'तात्कालिक' । ४ धर्मध्वजी ।
५ मृत्युना । ६ निर्दयतया ।
७ दीप

निर्ज्योतिश्चक्षुरिवाऽसुन्दरमाभाति । अरे ! रे ! नीच ! पापिष्ठ ! शठ ! तव किमपराद्धं दुग्धमुखेन मुग्धनमच्छिशुना ? हा ! हा ! किं करोमि ? क्व यामि ?

इत्थमनेकधा पूर्वविहितविरोधमुद्भावयन्तो विषादमासादयन्तोऽर्जुनमपि गालीदानरवहेलयन्त कणकण्टकायितया कर्कशगिरा अवभर्त्सन । केचन विरुद्धसशनेन[1] सह जरठलेष्टक्षेपमतीतडन् । कतिचन रदच्छदान् दशन्तो यष्टिमुष्ट्यादिभिरवधिषु सकोपम् । इतरे चञ्चच्चद्रहासेन निर्दयं प्राहाषु । अपरेऽत्यन्ततेजितलवित्रघातेन रक्तधाराभिरसिप्यापन् । अये सनिष्ठीवनिक्षेपं न्यगकापु । कतिपये पङ्कादिलेपैरलिपन् । किं बहुना बहवो मनुष्या बहुधा वर स्मरन्त प्रतिशोधमनैषु ।

केचित्—नात-ज्ञात ! तव साधुत्वमरे ! निष्ठुराशय ! खलु परो लक्षणाखून विनाश्य मार्जार केदारकङ्कणमाधाय तीर्थयात्राय प्रवृत्त । इतस्ततो भ्रमितुमशक्त न वृद्धनखरायुधन अपराऽऽरण्याना विप्रतारणाय निरामिषभाजित्व व्रतमङ्गीकृतम् । रे कपटघटापटो ! अत्यन्तमिष्ट शर्करांम्भसा सिक्तोऽप्याघ्रायते किमुत निम्ब ? गङ्गास्नातो पि गदभो जाजायते किं किलाऽऽजानेय ? हरिचर्मावितोऽपि पारीन्द्रायते किमुत गोमायु ? दम्भिन् ! किमु विश्व वञ्चयसे ? किं दम्भचर्यया मुग्धान विप्रतारयसे ? जात तव वैराग्येण अल तव तपस्यया अस्तु तवाऽस्ति क्येन भवतु च तव संयममारेण ।

इत्थमनल्पमाक्रोशता मानवाना गर्हणा निर्भत्सना ताडना छिदा भिदा चावलम्ब्यार्जुनस्तपोधन केवला भगवच्छिक्षा लक्षीकृत्य नहि किञ्चिदपि क्रुध्यति खिद्यते त्रस्यति बिभेत्युद्विजते च प्रत्युत सहिष्णुतया हृदये विभावयति स्म— अहो ! अमीषा नागराणा मया भशमनिष्टमाचरितम् निर्दयममीषा प्रेयासो दायादा दिष्टान्त दर्शिता महती क्षति प्रापिता पूर्णपाशविकबलेन चोपद्रुता । अतश्चेदेते मह्य क्रुध्यन्ति द्रुह्यन्ति माभाक्रोशन्ति ताडयन्ति मारयन्तीति किमनुचितमाचरन्ति ? उप्तवीज तु भवत्येवाङ्कुरितम् । बीजानुरूप हि फल किमारेकणीयमत्र ? आत्मन् ! हास-हास रोद रोद वा ऋण त्वयवश्यं देयमेव तदानीमानृण्यमिच्छ ना हसित्वैव दातव्य नहि सवा

---

१ विरुद्ध सशन गालि २ स्नपयामासु

३ वर्द्धसिहेन ४ आजानेय क्लीनोऽश्व

५ सिंहायते ६ कुत्सेऽवश्यमो लोप

त्यक्षेपम् । नूनमेते तु केलिगर्भकोमलान्त करणा सन्ति यन्मदाचीर्ण दुराचाराऽपेक्षया क्षोदिष्टमेव दण्ड व्यापिपर्ति[1] । हा ! हा ! मदपग धास्तु रेणुकर्णैरपि बहुसख्याका, अञ्जनगिरेरप्यसिता सागरोपमै कालैरपि दुर्भोग्या सहस्रधा जीवमार मारणैरपि च दुरुत्तारा सन्ति ।

अहह ! एते तु मम परममित्राणि वर्तन्ते । सौहार्द न कथ हृदा श्लाघनीयमेतेषाम् । यतस्तोकेनैव कालेन महामलीमस मा गर्हणता-डनभेदनैर्निर्मलीकर्तुमीहन्ते । भूरितम मामऽघभार लघूकर्त्तु यतन्ते । उत, किं नवीनमस्त्यत्र ? मन्थानेन मथितादेव दुग्धाद्धविराविर्भाव । शाणोत्कृष्टा एव मणयो महीपतिमौलिमलकुर्वते । तीव्राऽऽशुशुक्षणि-तापतातप्यामान हि तपनीय[2] नैर्मल्यमालिङ्गति । उत्खातादेव भुवस्त-लाच्छशिकरनिकरधवल सलिलमुन्मीलति । अहो ! क्षमैव मुमुक्षूणाम-लङ्कार, क्षमा हि भिक्षूणाममोघ शस्त्रम्, क्षमा हि तपसा दुर्बलस्य महाबलम् । अदभुतम् ! क्षमा तु नाम्नैव सर्वसहा, क्षमा त्वभिधयैव भूतधात्री, क्षमा तु प्रत्यक्षेण रत्नगर्भा, क्षमा ह्यचला, क्षमा ह्यनन्ता, सर्व हि चराचर क्षमाश्रितमेव विराजते । अतोऽहमपि क्षमामाश्रये, भक्त्या सेवे, मुदा पर्युपासे च । पुन शरीरस्य यातना नहि चिन्मयस्याऽऽत्मन । शरीरसाहचर्यादेवाह सुखी दु खीति जीवोऽनुभवति । वपु पञ्जरेऽवरुद्ध शकुनिरिवाऽसुमान् कालबिडालेन सन्निधीयते । अपरथा शरीरपञ्चकोन्मुक्त स्वरूपेणाऽसौ निरुपाधिक अजराऽमरोऽनन्त चिद-रूपश्चिदान्दो नित्य नन्दतितराम । देहपञ्जरस्य खलु दौर्बल्ये जायमाने मम का नाम क्षति ? परायत्तता हि प्रतिपल भयावहा । एते महाशया मा क्षिप्र स्वाधीनता दर्शयिष्यन्ति, कथ नैनान महामान्यानह सम्मान्ये ? प्रेमपवित्रेणाऽक्ष्णा च निरीक्षे ।

इतीव बहुविध नानाविशदविचारधाराभिरात्मान, प्रीणयन्, निकृष्टेष्वपि श्रेष्ठत्वमन्विष्यन्, कटुकेऽपि मिष्टत्वमाकर्षन् कोपास्पदेऽपि शान्तिमनुशीलयन्, विषादेऽपि च प्रसादमारोपयन् नगरे परिबभ्राम प्रतिवचन तु दूरमास्ता भ्रूभङ्गमपि नारोपयति स्म भालस्थले ,साम्य-मेव परिशीलयति स्म स ।

---

१ बहुवचनम् २ स्त्रीप्रत्ययान्त

३ आशुशुक्षणिरग्नि ४ स्वर्णम्

केचिद् पूर्वाजितमुजितमपि मन्तु विस्मरन्तो वार्त्तमानिकमुनिधर्माऽवलम्बित्वमाद्रियमाणा प्रेक्षावन्त सहष प्रणिपेतु ससत्कार भिक्षामपि च ददुस्तथाप्यसौ मुनिनहि व दमानानर्क्षिस्य दनरान दयामास किन्तु रागद्व षौ व्युदस्यन् सर्वे भद्राणि पश्यन्तु इत्येव चित्त विभावयन् चेतनस्य वपुषश्च पाथक्य वितर्कयन् धर्मशुक्लादिध्यानमाध्यायश्च निमल सयम पालयाञ्चकार ।

अनया पद्धत्या घोर तपस्यत पानीयमाप्नुवन् भक्तमनाप्नुवत भक्तमासादयन सलिलमनासादयत भीमान परीषहान् मषयत उदारा विचारधारामातन्वत आत्मनि पारमात्म्यमनुभावयत ध्यानाग्निना भीषणान्यपि पापानि भस्मसात्कुर्वत प्रतिपलमात्मनो वशद्य च प्रकट यतो महामुनेरर्जुनस्य शनै शनैर्बाह्या आन्तराश्च सर्वेऽपि क्लेशा नाम शेषतामगमन् ।

षाण्मासिक दीक्षापर्यायं प्रतिपाल्य प्रान्तऽधमासस्य यावज्जीवम नशनमाहृत्य भावोत्कषतया क्षपकश्र णिमारुह्य मोहमहामल्ल द्वादश गुणस्थानस्यादौ निपात्य त्रयोदशगुणस्थानमुखे श्रीण्यवशिष्टानि च धन घात्यानि कर्माणि प्रोन्मूल्य लोकालोकभासुर समस्तद्रव्यपयवसाक्षात्का रदक्ष केवलज्ञानमाससाद । तदनन्तरमेव सूक्ष्मक्रियमप्रतिपातिन शुक्ल ध्यानस्य तृतीय भेद ध्यायन् मनोवाक्काययोगाना प्राणापानयोश्च क्रमशो निरोध विधाय ईषत्पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणकालेन समुच्छिन्न क्रियमनिवत्तिनामक शुक्लस्य तुर्यं भेद भजमान चतुर्दशगुणस्थानमारूढ शैलेशीमनुशील्य शरीरत्रिक च परिहाय ऋजुश्र णि प्राप्तोऽस्पृशद्गति रेकेन समयेन साकारोपयुक्तो निर्वाणमवाप । अष्टकर्मणा क्षयाल्लब्धै र्ज्ञानदशनात्मिकसुखाद्यष्टसिद्धगुणै शोभितोऽपुनरागतिर्निस्तुषशालि कणवद् अपुनर्जन्माऽक्रियोऽनन्त सिद्धो बुद्धो मुक्तश्च बभूव ।

इति श्रीच न्दनमुनि विरचित आर्जुनमालाकारे गद्यकाव्ये भगवदुपदेश मकण्य मालिकस्य दीक्षोरीकरण साभिग्रहघोरपरीषहसहन शुभभावनया क्रमशा-निमू लन—मुक्तिगमनमिति प्रपञ्चाऽञ्चित सप्तम समुच्छ्वास

काव्यकर्तुः प्रशस्ति

दुःसाध्यमिथ्यात्वगदापहारी, परोपकारप्रवण पटीयान् ।
अलोलुभोऽथाऽनुभवी यशस्वी, भिषग्वरो भिक्षुविभुर्बभूवान् ॥१॥

शिष्यस्तदीयोऽजनि भारिमालो, गुणालयो राजशशी तृतीय ।
श्रीजीतमल्लो विदुषा वरेण्यस्तुर्योऽथ जज्ञे मघवा गणेश ॥२॥

षष्ठोऽभवन्माणिकलालनामा, श्रीडालचन्द्रस्तदनु प्रतापी ।
अथाऽष्टम पट्टमलकरिष्णु—श्छोगाङ्गज कालुगणाधिपोऽभूत ॥३॥

अज्ञा अपि प्राज्ञगति प्रयाता, मूका अभूवन् खलु वावदूका ।
वन्ध्यत्वमाप्ता बत निन्दनीया, कालु कृपालु सुनिषेवमाणा ॥४॥

यच्छासने गौरवमापित तै—र्गुप्त न तत्साक्षरमानवेषु ।
तुष्येन्न को यद्वरदानरूप, लब्ध्वा महान्त तुलसी गणेन्द्रम् ॥५॥

विद्या विशाला विधिमद् विधान—मोजस्विनी वाग् सफल प्रयास ।
विचारसौक्ष्म्य तुलसीशितुर्मे, कास्कान न विस्मापयते गुणाढ्यान् ॥६॥

कृत श्रमोऽय तदनुग्रहेण, लघीयसा बोधविवृद्धिहेतो ।
साफल्यमस्मिन विषये मयाप्त—नवेति विज्ञा खलु साक्षिणोऽत्र ॥७॥

रसादिदोषा यदि सावकाशा—स्तथापि सुज्ञा सतत कृतज्ञा ।
क्षमा विधातु गुणरूपतस्तान, न कि मधु क्षारसुमेषु लभ्यम् ॥८॥

*महाव्रताऽभ्राऽकरान्वितेऽब्दे, ज्येष्ठे सुमासे बहुले दले च ।
धन्यर्षि-दीपाऽवरज प्रपूर्य, कृति शुभय्युर्मुनिचन्दनोऽभूत ॥९॥

---

* अकाना वामतो गति इति २००५ सवत्सरे
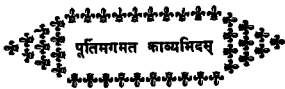
पूर्तिमगमत काव्यमिदम्

आर्जुनमालाकारम्

हिन्दी अनुवाद

मंगलाचरण

(१)

शमरस से परिपूर्ण, अर्द्धनिमीलित निद्रारहित-दृष्टि से सम्पन्न, समस्त भय से वर्जित, निश्चल, बद्धपद्मासन वाले जिनेश्वर देवो की ध्यानमुद्रा भव-दावानल से जलते हुए प्राणियो को शान्ति प्रदान करें।

(२)

उत्तर देने मे प्रतिपटु, सूक्ष्मतम तत्त्वो पर एकनिष्ठायुक्त, भय और कोप से वर्जित, नये-नये दृष्टान्त देने मे निपुण, जिनवाणी का अनुसरण करने वाली और अनेक सशयो को दूर करने वाली श्रीभिक्षु स्वामी की औत्पातिकी-बुद्धि जय को प्राप्त हो।

(३)

प्रेम से मस्तक पर हाथ फैरते हुए, स्मित-मुद्रा धारण किये हुए 'मूर्ख ! कुछ नही जानता' ऐसा मधुर वचन बोलते हुए श्रीकालुगणि मेरी रक्षा करें।

(४)

हृदय रूपी हिमालय से निकली हुई, अत्यन्त स्वच्छ, वैराग्य-जल से पूर्ण, अनतिकतारूप मल को दूर करने वाली श्री तुलसी गणिराज की यह वाणी-रूपी गगा पावनता प्रदान करें।

(५)

पण्डितो की यह सूक्ति सुनी जाती है कि "महान् पुरुषो का प्रभाव अचिन्त-नीय होता है।" वास्तव मे महान् पुरुषो के प्रभाव से जिनकी भावना भावित हो चुकी हो, ऐसे पुरुषो मे यह सूक्ति सत्य प्रमाणित होती है।

(६)

इस पृथ्वी मे ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो महात्माओ के प्रभाव से भव्य पुरुषों के समक्ष प्रकट नही हो जाती ? महापुरुषो का प्रभाव कल्पवृक्ष के समान ही होता है।

(७)

निरन्तर हिंसा के कारण जिनके हाथ रुधिर से भरे हुए है ऐसे पापियो के अग्रेसर नृशस पुरुष भी महापुरुषो का आश्रय पाकर विश्वहितकारी वृत्ति वाले बन जाते है।

(८)

इस विषय मे अर्जुन मालाकार का दृष्टान्त आगम मे प्रसिद्ध है। उसी का अवलम्बन कर अल्प बुद्धि वाला मैं इस काव्य की रचना कर रहा हू।

(९)

रचना का परिश्रम विद्वज्जनो के लिए हृदयग्राही होगा या नही यह निर्णय मुझ नही करता है क्योकि बालक की लीला स्वतन्त्र ही होती है।

कथारम्भ

राजा जो प्रजा का रजन करे

भरत क्षेत्र के अन्तर्गत समस्त देशो मे मुकुट के समान मगध जनपद म राजगृह नगर पृथ्वी के मस्तक को भूपित कर रहा था। वह गगनचुम्बी भवनो की श्रेणियो से सुशोभित था। अनेक वाणिज्य-कुशल व्यापारियो के कारण वहाँ का व्यापार खूब बढा-चढा था। वह कुबेर के वैभव को भी मात करने वाले भाग्यशाली धनाढ्यो से परिपूर्ण था। सुदृढ प्राकार द्वार, खाई आदि से सुरक्षित होने के कारण शत्रुओ के भय से रहित था। दूर-दूर देशो से आने वाले क्रय विक्रयकर्ताओ से वहाँ के बाजार खचाखच भरे रहते थे। शुद्ध घृत चीनी तथा मैदा से विविध प्रकार के सुस्वादु मिष्ठान्न बनाने वाले हलवाईयो की दुकानो से सम्पन्न था। इधर-उधर घूमते हुए फेरी वाले व्यापारियो की ध्वनि से गूंजता रहता था। जैनागम प्रसिद्ध वह राजगृह नगर इस भूतल पर स्वर्ग के समान सुशोभित था।

राजगृह नगर मे राजा श्रेणिक का शासन था। वह वासुदेव के समान अखण्डशासन करने वाला सिंह के समान प्रचण्ड पराक्रम का धनी सूर्य के समान असह्य प्रतापशाली चन्द्रमा के समान सौम्य प्रभा से सम्पन्न बृहस्पति

के समान विद्यावारिधि का पारगामी, पितामह भीष्म के समान दृढप्रतिज्ञ, युद्ध मे सुमेरू के समान निश्चल चरण वाला, कल्पतरु के समान दानशूर, समुद्र के समान मर्यादायुक्त, श्रीकृष्ण के समान राजनीति मे निपुण, कमल के समान निर्मल विचारो से पूर्ण हृदय वाला, प्रभात के समान जागरण-परायण, वासन्ती वायु के समान आह्लादकारी, गंगाप्रवाह के समान निर्मल, पथ मे स्थित वृक्ष के समान पथिको के लिए आश्रयदाता, वायु के समान स्वतन्त्र विचरण करने वाला और हिमालय के समान सीमाकारक था।

राजा श्रेणिक निडर होता हुआ भी पाप से डरता था। दयाशील होने पर भी दुष्टो के दमन मे कठोर था। सहनशील होते हुए भी अन्याय को सहन नही करता था। गर्वरहित होने पर भी अपने न्याय पर गर्व रखता था। शूरवीर होने पर भी पर-दुःखकातर था। प्रजा-पति होते हुए भी प्रजा-सेवक था। सुखशील होने पर भी परिश्रमी था। कोप और प्रसाद मे स्वाधीन होता हुआ भी राजनीति के अधीन था। उसके विषय मे सभी ऐसा अनुभव करते थे।

राजा श्रेणिक अपना कर्त्तव्य समझ कर प्रजा पर अनुशासन करता था, उद्दतता से नहीं। प्रजा से कर और दण्ड लेकर वह अपनी उपभोग-सामग्री की वृद्धि नही करता था, किन्तु प्रजा के उपकार में ही उसका व्यय करता था। अनेक बार वेश बदल कर वह तिराहो, चौराहो और जहाँ हाथ न दिखाई दे ऐसी अन्धकारमयी सकडी गलियो मे भी चुपचाप घूमता और अपनी अपकीर्ति को सुनने के लिए उद्यत रहता था। अपनी भूरि-भूरि प्रशंसा सुनकर वह फूल नहीं जाता था, वरन् अपने को छिपाता हुआ किसी बहाने से अपनी किसी त्रुटि को प्रकट करता हुआ प्रजा से वार्तालाप करता था। किसी के मुख से अपना दोष सुनकर भी क्रुद्ध नही होता था, किन्तु उसके रहस्य की खोज करने मे तत्परता प्रदर्शित करता था।

समय समय पर समूह मे भाषण करता हुआ वह कहा करता "प्रजा को अनुकूल बनाकर ही राजा कुशलपूर्वक चिरकाल तक आनन्द पा सकता है, न कि प्रजा को प्रतिकूल बनाकर। प्रजा का अभिमत शासन सदा बढता है, न कि प्रजा द्वारा तिरस्कृत केवल राजा का मनचाहा शासन। प्रजा ही राजा का जीवन है, प्रजा ही राज्य का मूल है, प्रजा ही राजा को 'इन्द्र, नाथ' आदि सम्मान-सूचक शब्दो से पुकारती है। क्या स्मृति मे नही है कि प्रथम पृथ्वी-पति आदीश्वर श्रीऋषभदेव को विनीता-निवासियो मे ही योग्य समझ कर निर्वाचित किया था। कौन नही जानता कि मासलोलुप एवं शिशुभक्षण करने

मे तत्पर 'सौदास' को प्रजा ने ही अयोध्या से एकदम निकाल दिया था ? अधिक क्या कहा जाय प्रजा पालन ही राजा का धर्म है न कि प्रजा का शोषण ! राजा की तनिक-सी असावधानी से ही राष्ट्र में अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं। वहाँ के *प्रजाजनों को अनेक उपद्रवो का शिकार होना पड़ता है।* उनके मन सशयशील बने रहते हैं और मनोरथ विलीन हो जाते हैं। अतएव राजा को सदा सावधान रहना चाहिए।"

नीतिनिपुण भी यही कहते है— राजा धर्म परायण होता है, तो प्रजा के लिए सभी दिशाए कामधेनु बन जाती है निःसशय-मनुष्यो के मन प्रमोदमय रहते है। चारो वर्ण स्वाधीनता का अनुभव करते हैं। ऋतुए अपने समय का अतिक्रमण नही करती। श्रेष्ठ राजा की भूमि शस्य श्यामला होकर शोभित होती है। घर घर मे उत्तम गौए शोभायमान होती हैं। गृहस्थो के आंगन पुत्र पौत्रो से भरे रहते हैं। लोग दूसरो का द्रव्य भी लेने की चेष्टा नही करते। परकीय स्त्रियो को अपनी माता के समान मानते हैं। प्रशस्त-चारित्र वाले मुनियो का अच्छा सम्मान करते है। छोटे बडो के वचन-प्राकार को अनुल्लघ *नीय मानते है। वहाँ भाई भाई मे निर्मल प्रेम होता है,* कुल वहुए सासू के साथ कलह नही करती। घर घर प्रायः अतिथि का सत्कार किया जाता है। वहाँ चोर, परस्त्री लम्पट ठग और पाकेटमारो को कोई अवकाश नही होता। —इत्यादि सुभाषितो से वह राजा प्रजा को सन्तुष्ट करता था।

भम्भासार-श्रेणिक राजा चौंतीस अतिशयो से विशिष्ट वाणी के पैंतीस गुणो से विशद व्याख्यान करने वाले मिथ्यात्व अज्ञान आदि अष्टादश दोषो से रहित मोह महामल्ल को पछाड़ कर कैवल्य-लक्ष्मी प्राप्त करने वाले सुरेन्द्रो असुरेन्द्रो एव नरेन्द्रो द्वारा वन्दित चरण-कमलो वाले इन्द्रभूति आदि श्रेष्ठ श्रमणो तथा चन्दनबाला आदि उत्तम श्रमणियो द्वारा सभक्ति पूजित श्री वर्द्ध मान स्वामी का शिष्य था। वह जीव-अजीव आदि तत्त्वो का वेत्ता छह द्रव्यो का गम्भीर रहस्य जानने वाला व्रत अव्रत का विवेचन करने वाला सावद्य निरवद्य उपादान भेद से अनुकम्पा के दो भवो का भली भाति ज्ञाता तथा सदा विपरीत दिशा वाले ससार और मोक्ष के मार्ग को पृथक-पृथक् समझने वाला था। पात्र अपात्र का विवेचक सर्प और गाय के दृष्टान्त से दान का विशद विवेचन करने वाला और निर्जरा के पीछे पुण्योपचय मानने वाला था। नय निक्षेप और प्रमाण रूपी लहरो से डोलयमान स्याद्वाद-समुद्र का मथन करने वाला था। वह चतुर्थ गुणस्थानस्थित श्रावक था। वह देवाधिदेव का ही पूजक था राग-द्वेष रूपी पक से लिप्त निग्रह-अनुग्रह करने वाले पृथ्वी का भार

हरने के लिए बार-बार अवतार लेने वाले एव सदैव पत्नी से युक्त ऐसे अन्ययूथिक देवो का नहीं। छत्तीस गुणो के द्वारा अवर्णनीय गौरवशाली, बाह्य एव आन्तर-ग्रन्थि से रहित, हृदय के अन्धकार का निवारण करने मे सूर्यमण्डल के समान, ससार सागर मे डूबने वाले जीवो के लिए नौका के समान एव अत्यन्त पवित्र आचार वाले गुरु की ही सेवा करता था।

अरिहन्त के मुखारविन्द से नि सृत, अनक जन्म-जन्मान्तरो से सचित पाप-समूह को नष्ट करने मे समर्थ एव भव-दावानल मे जलते हुए प्राणियो की रक्षा करने मे समर्थ धर्म पर उसका अटल विश्वास था। वह मानता था कि—"धर्म अशरणो के लिए शरण है। बान्धवहीनो का बन्धु है। दरिद्रो के लिए धन है। भटकते हुओं के लिए आश्रय है। दु खाकुलो के लिए सुख रूप है। असहायों का सहाय, भयभीतो को अभयदाता, निर्बलो का बल, म्रियमाणो के लिए अमृत मार्ग नही जानने वालो के लिए राजपथ, रोगियो के लिए औषध और शून्य-हृदय वालो के लिए मित्र के समान है। परम मगलमय, अहिंसामय, विनय-मूलक, त्यागप्रधान, जिनाज्ञा के अन्तर्गत, सवर-निर्जरा रूप, ध्रुव, सर्वहितकर तथा दुर्गति में गिरते हुए जीवों को धारण करने में समर्थ है।"

राजा श्रेणिक परम अमूल्य, आत्मा के लिए हितकर, परब्रह्मसाधक रत्न-त्रय की उत्कृष्ट भक्ति से आराधना करता था। शका-काक्षा आदि दोषो से अदूषित तथा शम-सवग आदि लक्षणो से भूषित क्षायिक सम्यक्त्व का परिपालन करता था। धर्मानुराग उसके हाड मास और मज्जा तक मे व्याप्त था। सुदृढ विश्वास वाले उस राजा को देवगण भी, स्वप्न मे भी, धर्म से विचलित करने मे समर्थ नही थे।

महारानी चिल्लना राजा के अन्त पुर को उसी प्रकार सुशोभित कर रही थी, जैसे इन्द्र के अन्त पुर को शची, चन्द्रमा के अन्त पुर को रोहिणी, कामदेव के अन्त पुर को रति और चक्रवर्ती के अन्त पुर को श्रीदेवी सुशोभित करती है।

महारानी चिल्लना अपने लोकोत्तर ललित-लावण्य एव सौन्दर्य से विल-सित विस्तीर्ण तारुण्य के द्वारा कात्यायनी का (अर्द्धवृद्धा होने से) उपहास करती थी। श्रेष्ठ सती एव पतिव्रतधर्मपरायणा वह रानी कटकाकीर्ण पद वाली चचला लक्ष्मी का भी पराभव करती थी। वह चौसठ कलाओ मे कुशल और विविध काव्यालकारो मे पारगत थी। मनोरम सूक्तियों से उसका मुखार-विन्द मुखरित रहता था। इतिहास, नाटक, पुराण आदि का भेद समझने वाली वह रानी सरस्वती से भी वाद-विवाद करने मे समर्थ थी। महाराज चेटक की पुत्री

होने से परमोत्तम जैनधम को मानने वाली एव श्री महावीर स्वामी की शिष्या थी । उसने नव तत्वो के रहस्य को भली भाँति हृदयगम कर लिया था अत निश्चल चित्त वाली होकर वह परमश्रद्धा से सर्वोत्तम जैनदर्शन की उपासिका थी । पहले उसके पति-श्र णिक ने अनेक उपसर्ग किये थे असत्य-जाल मे फासने की चेष्टा की थी । प्रतिदिन अनेक कठिन समस्याएँ उसके सामने प्रस्तुत की थी । बनावटी जैनमुनि की गर्हा द्वारा उसे घृणास्पद बनाने की भी चेष्टा की थी । अनेक कपट घटनाओ द्वारा छलने का प्रयास किया था । फिर भी जैनदर्शन से उसका एक रोम भी चलायमान नही हुआ । जैन विचारधारा के प्रति उसके हृदय मे किञ्चित्‌मात्र भी सशय नही हुआ । यही नही वह अपने पति को भी जैनमार्ग अगीकार कराने का प्रयत्न करती रही । वह मिथ्यात्व आदि शत्रु समूह को ज्ञान रूपी चन्द्रहास खड्ग से नष्ट करने के लिए भयानक चण्डी का रूप दिखलाती रही । वह न्यायमार्ग पर नि सकोच चली और कु मुनियो के चित्त को उनकी विचारधारा के साथ कम्पित करती रही । अन्त मे सदाचार की साक्षात्मूर्ति चिल्लना ने अपने पति को पूर्ण रूप से जैनमार्ग का पथिक बना लिया और वह विजयी हुई ।

दाम्पत्यप्र म से औचित्य का उल्लघन न करते हुए जगत्‌ के समक्ष उच्च आदर्श प्रस्तुत करते हुए एव राजनीति मे कुशल होते हुए भी धर्म की ओर एकमात्र लक्ष्य रखते हुए वे दम्पति दूसरे सीता राम जैसे प्रतीत होते थे ।

राजा श्र णिक का मत्री अभयकुमार था । मानो विधाता ने बुद्धि के परमाणुओ से ही उसका निर्माण किया था अथवा पिण्डीभूत विवेक ने ही मनुष्य की आकृति धारण करली थी या जगत्‌ की विचित्रता को देखने की इच्छा से बृहस्पति ने धरातल पर अवतार ग्रहण किया था । दो हाथ वाला होते हुए भी वह भाग-दशन कराने मे सूर्य के समान सहस्र-कर था । दो चक्षु वाला होते हुए भी वह सहस्राक्ष (इन्द्र) के सदृश दूरदर्शी था । एक सिर वाला होने पर भी वह परामर्श देने मे सहस्रशीर्षा (शेषनाग) के समान कुशल था । चेहरे के हाव भाव और हाथो के अभिनय से वह दूसरो के मन की बात भली भाँति ताड लेता था । प्रतिध्वनि मात्र से दूसरो के विचार का रहस्य—निष्कर्ष निकालने मे निपुण था । आयवृद्धि व्यय के औचित्य स्वामी के सरक्षण और राज्यतन्त्र के पोषण के विचार मे ही डूबा रहता था । साम दाम दण्ड और भेदनीति मे कुशल था । राज्यकोष की वृद्धि करता हुआ भी वह प्रजा क रक्त का शोषण नही करता था । प्रियवादी होने स हितकर बात कहता हुआ भी चाटुकारिता का आश्रय नही लेता था । स्वार्थान्ध होकर वह राजा का किञ्चित्‌मात्र भी

अनर्थ सहन नही करता। इस प्रकार नन्दादेवी का आत्मज अभयकुमार परम-धार्मिक, पवित्र आचार वाला, अत्यन्त जनवल्लभ एव निर्लोभ था।

अभयकुमार के विलक्षण बुद्धिवैभव को देखकर पडौसी राजा चतुरगिनी सेना से सम्पन्न होने पर भी सदा श्रेणिक राजा से डरते रहते थे। उसने चार प्रकार की बुद्धि के द्वारा ऐसे अद्भुत, स्वप्न मे भी असम्भव, कार्य सम्पन्न किए थे, जिनसे विरोधियो के सैकडो मनोरथ बादलो की तरह विलीन हो गए थे। उसने विरोधियो के हृदय मे ऐसी चकाचौंध पैदा कर दी थी कि जब तक यह असाधारण बुद्धि का धनी, सूक्ष्मदर्शी अभयकुमार मत्रीपद पर सानन्द समासीन है, तब तक इन्द्र के समान शक्तिशाली शत्रु भी इस राज्य को नही जीत सकते।

भम्भासार (श्रेणिक) भी इस प्रकार के पुत्र को मत्री के रूप मे पाकर अपने शासन को, सुदृढ स्तम्भो पर अवस्थित महल की भाँति, निबिड प्रकाण्ड वाले वृक्ष की भाँति और मेढी वाले खले की भाति सुदृढ समझता था। राजा के चित्त मे कदाचित् कोई चिन्ता उत्पन्न होती तो अभयकुमार के समक्ष प्रस्तुत होते ही उसका प्रतीकार हो जाता था। आज भी ऐसे अनेक उदाहरण सुने जाते है।

राजगृह के सभी सधन और निर्धन नागरिक नन्दा-सुत अभयकुमार का अभिनन्दन करते, जैसे महल मे दीपक का, सरोवर मे जल का, शरीर मे चैतन्य का, हृदय मे करुणा का, दूध मे घी का, पठित मे विवेक का और अग्नि मे उष्णता का अभिनन्दन किया जाता है। उन्हे अभयकुमार जैसे महाबुद्धिशाली मन्त्री पर गर्व था। वे अपने भाग्य की प्रशसा करते थे। अथवा सत्पुरुषो का सम्मिलन किसे आनन्द प्रदान नही करता ?

अभिप्राय यह है कि श्रेणिक द्वारा सनाथ और अभयकुमार द्वारा सुरक्षित किए हुए उस राज्य मे प्रजा मृत्युलोक में भी सदा स्वर्गलोक के समान सुख का अनुभव कर रही थी।

दूसरा समुच्छ्‌वास

(१) यौवन (२) धन की प्राप्ति (३) प्रभुता और (४) अविवेक इनमे से एक भी अनर्थकारी है। यदि चारो ही एकत्र हो जाएँ तो फिर कहना ही क्या ?
—(नीति)

इस परिवर्तनशील ससार मे कोई भी पदार्थ एकरूप नही रहता। जगत् शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ ही है गमन करने वाला जगत्। इससे यही ध्वनि निकलती है कि जहाँ अभी अखण्ड सुख मालूम पडता है, वहाँ कुछ ही समय के बाद अवश्य दु ख होने वाला है। जहाँ अभी मगलमय शब्द दिग्‌मण्डल को मुखरित कर रहे हैं वहाँ किसी समय कर्ण-कटु कर्कश आक्रन्द शब्द भी सुनाई दे सकते हैं। जहाँ अभी नव-मैत्री रूप कमल परम प्रीति-सौरभ फला रहा है वहाँ भी विधि विस्तीर्ण वैर रूप वडवानल को दिखला देता है। जो धनिक लोग अपनी सम्पत्ति से कुबेर को भी परास्त कर रहे हैं वे कुछ क्षणो के पश्चात् धन नाश होने से भूख से क्षीणकाय होकर दूसरो के मुह ताकते दिखाई पडते हैं। जो गज के पर्वत अहकार से उच्च ग्रीवा वाले जगत को तृणावत् समझने वाले सुनी अनसुनी करने वाले सानन्द खेलते देखे गये वे ही अब नतमस्तक निरभिमान भाग्य की विचित्रता से पीडित मलिनवदन धूलिधूसरित चरण वालो से भी अर्थात् जसे-तसे पुरुषो से भी पराभव पाते देखे जाते है। ओह ! एक जैसा समय न कभी वर्तता है और न ही कभी कार्य करता है।

सर्वसुखमय धणिक के साम्राज्य को भयानक भावीरेखा किस प्रकार उपद्रवरूप बाढ मे बहा देती है ? अग्नि की एक साधारण सी चिनगारी किस प्रकार खाण्डववन दहन का ताण्डव नृ य दिखाती है ? कैसे छोटा-सा भी पाप का बीज लाखो विष-पुष्पो को पैदा करता है ? यह सब सावधान होकर सुनिए।

राजगृह नगर के ईशानकोण मे गुणशील नामक उद्यान था। वह साक्षात नन्दनवन के सदृश था। नाना प्रकार के कदम्ब नीम जम्बीर आम ताल आदि

वृक्षों से श्यामल छाया वाला था। बहुत सुन्दर पत्र-पुष्प फलों वाले वृक्षों से मनोरम था। जहाँ वृक्षसमूहों को सिंचन करने वाली जल की नालियां पौधों की क्यारियों को शीतल जल से भर रही थी। नाना प्रकार के मयूर, शुक-सारिका, कोकिल आदि पक्षी मानो उस उद्यान का गुणगान गाया करते थे। प्रस्फुटित कमल के सौरभ से सुरभित, चन्द्र के किरण जाल के सदृश श्वेत, मिष्ट जल से परिपूर्ण तथा विशिष्ट प्रस्तरों से सुघटित तट वाले गोलाकार तालाबों से उसके चतुष्पथ सुशोभित थे। अपने सौन्दर्य से काम को जीतने वाले सपत्नीक धनिककुमार उसकी दूब पर घूमा करते थे। कठिन पाठ रटने में पटु, परीक्षार्थी छात्र-वर्ग वृक्षों के नीचे बैठते थे। वैद्यो के निर्देशानुसार कितने ही रोगी शुद्ध वायु-सेवनार्थ वहां घूमते थे और कहीं-कहीं लता-निकुंजों में किसी एक पुद्गल पर अपनी अधखुली दृष्टि जमाये तपस्वी जन पिंडस्थ, पदस्थ आदि ध्यान में मग्न होकर विराजमान थे।

उस उद्यान के अन्तर्गत एक पुष्पवाटिका—फूलों की वाडी थी। वह विभिन्न वर्णों वाले गुलाब के फूलों के समूह के बहाने विश्ववैचित्री को प्रगट करती थी। मल्लिका, चमेली, जूही, आदि पुष्पों द्वारा अनेकान्तात्मक वस्तु-स्थिति प्रदर्शित करती थी, और चम्पकवृक्ष के सुगन्धित स्वर्ण-वर्ण वाले फूलों को धारण करती हुई जम्बू वृक्ष के सौरभहीन स्वर्ण-पुष्प समूह का उपहास करती थी। तथा हवा के साथ चित्ताकर्षक सुन्दर सुरभि चारों दिशाओं में प्रेषित करती एवं दूर से आने वाले पथिकों को, मानो प्रतिपल आह्वान कर रही थी। भ्रमरों के मजु गुंजारव से वह लोगों के सामने अपनी मधुदान-दक्षता को जताती थी, और अर्ध-विकसित कलियों के समूह से मानो शैशव की निर्मलता प्रकट करती थी। वह पुष्पवाटिका कामदेवरूप सिंह की गुफा जैसी सघन निकुंजों वाली थी। अतीव रमणीय होने से नगरनिवासियों की उत्कृष्ट विहार-भूमि थी।

पुष्पवाटिका के एक कोने में 'मुद्गरपाणि' नाम से विख्यात यक्ष का मन्दिर था। वह फहराते हुए उन्नत ध्वजादण्ड से आकाश के साथ स्पर्धा करता जान पड़ता था। अत्यन्त चतुर कारीगरों के द्वारा निर्मित होने से विश्वकर्मा के निर्माण की भी जैसे अवहेलना कर रहा हो, तथा विचित्र मणिरत्नों से जड़ा हुआ प्रागण होने से मानो देव गृहागण को प्रत्यक्ष दिखा रहा हो। उसकी दीवारें घिस कर ऐसी चमकदार बनाई गई थीं कि वह भरत महाराज के आदर्श-भवन की स्मृति दिलाता था। वह यक्षमन्दिर नागरिकों द्वारा परम श्रद्धा से पूजनीय था और एक हजार पल वजन वाला मुद्गर हाथ में धारण करने से मुद्गरपाणि यक्ष का मन्दिर कहलाता था।

उसी मन्दिर की शोभा बढाने वाली विशिष्ट काष्ठ से निर्मित सुन्दर वस्त्रो से भूषित बहुमूल्य अलकारधारिणी प्रभावशालिनी होने से महान् समारोह के साथ प्रतिष्ठापित अनेक ऐहिक सुख के इच्छुक लोगो द्वारा अर्चित दूर-दूर से आने वाले यात्रियो के लिए दर्शनीय मुखारविंद वाली पूर्ण मनोरथ होने वाले धनिको द्वारा प्रदत्त धन से भरपूर भण्डार वाली अप्रतिम शक्ति वाले मुद्गरपाणि यक्ष' की प्रतिमा थी।

वहाँ अर्जुन नामक एक माली रहता था जो उद्यान की रक्षा किया करता। वह छ ही ऋतु के फल लगाने मे विचक्षण भूमि को उर्वरा बनाने के लिए गोबर कण्डो आदि खाद देने मे चतुर यथासमय पानी सीचने मे निपुण वृक्षो फलो एव पुष्पो के रोगो का जानकार वनस्पतियो का सयोग करने मे निपुण नाना प्रकार से पौधो की कटाई करने मे कोविद पक्षियो के उपद्रव को निवारण करने मे तत्पर शशक मृग शृगाल आदि जीव जन्तुओ को रोकने मे उद्यत और अपने कार्य मे सलग्न रहता था। वह स्वभाव से सीधा और भोला था।

बन्धुमती उसकी अत्यन्त प्रिया पत्नी थी। वह केले के समान कोमल शरीर वाली कमलिनी की तरह प्रसन्न वदन वाली अलकार रहित होते हुए भी चन्द्रकला के समान सहज सौन्दर्यवाली बाह्य हाव भाव विलास आदि को न जानती हुई भी बाल-लीला की तरह मनहरने वाली किसी प्रकार की सजावट के बिना भी कामाग्नि-पीडित युवको को छाया की तरह अभीष्ट मेघ के साथ बिजली की तरह पति का अनुगमन करने वाली सुई की तरह सरल प्रकृति वाली तारा-श्रेणी के समान प्रकट आचरण वाली एव घडी की तरह सामयिक कार्यों का अतिक्रमण न करने वाली थी।

अर्जुन माली बन्धुमती के साथ प्रतिदिन पुष्पवाटिका से फूलो को चुनता और उसके बाद अनेक पूर्वज-परम्परा से पूजित मुद्गरपाणि यक्ष की प्रतिमा को सुवासित पुष्पो से भक्तिपूर्वक अनेक प्रकार से पूजता था। अनेक गौरव सूचक शब्दो से उसका अभिवादन करता और हार्दिक श्रद्धा से प्रणाम करता था। उसके बाद कुछ बिखरे हुए कुछ चतुराई के साथ गूथे हुए कुछ गुलदस्तो के रूप मे कुछ हार या अर्धहार के रूप मे फूलो को नगर मे ले जाकर बेचता था। इस तरह वह अपना गृहस्थ-जीवन सुख से चलाता था। आय के अनुसार व्यय करता हुआ वह सारे कार्य स्वतन्त्रता से चलाता था।

उसी नगर मे 'ललित' नाम के गोष्ठी-पुरुष थे। वे किसी बडे राजकार्य को सम्पादन करने के कारण राजा द्वारा निर्भय अर्थात् अदण्डनीय घोषित किये गये थे। उस अभयदान की बदौलत व अत्यन्त उच्छृ खल बन गए थे। धनाढ्य

घर में जन्म लेने के कारण उन्हें व्यापार आदि की चिन्ता नहीं थी। वे पिण्डी-भूत कलह के समान, कलि-पुरुष के अवयवों के तुल्य, अधर्मराज के दूत सरीखे, निर्लज्जता के विलास जैसे, दुर्व्यसनों के दास समान, कालुष्य समुद्र की तरंगों के सदृश, दुष्प्रवृत्ति के परिणाम सरीखे और भावी उत्पात-वृक्ष के अकुर समान थे। वे छह युवक स्वच्छन्द विचरण करते थे।

उन्होंने जहाँ जाना चाहा वहीं गए, जो करना चाहा वही किया। जिसे जिसे पाना चाहा उसे पाया। जो खाना चाहा वह खाया। जो पीना चाहा वह पीया। जो देखना चाहा वह देखा। जो छीनना चाहा वह छीना। अहो! जवानी का पागलपन मनुष्य को बुढापे के बिना भी अन्धा और बहरा बना देता है। न्याय मार्ग से अति दूर और अविवेक-पथ से अति समीप लाता हुआ दुर्मद दानवीय वृत्ति को बढावा देता है, और आत्मीय गुण समूह का ह्रास कर देता है। हाय! हाय! अगर उस यौवन के साथ प्रचुर अर्थ का योग हो गया तब तो मनुष्य समुद्र को भी चुल्लू भर समझने लगता है। विस्तृत पृथ्वी को भी दो पैर जितनी मान लेता है। अनन्त आकाश भी उसे एक टोपसी के समान प्रतीत होने लगता है। मनुष्य के अत्यल्पकालिक जीवन को भी परार्द्ध (एक उत्कृष्ट काल की सख्या) से भी अधिक समझने लगता है। अहो धनसहित यौवन की विपरीतता कैसी अद्भुत होती है? विचार पूर्वक प्रवर्तन करने वाले पुरुष पर सुस्ती का आरोप, गौरव के योग्य गुरुओं के प्रति उपहास की प्रवृत्ति, धार्मिक पुरुषों के प्रति मिथ्याचार की कल्पना, सत्सग को समय की व्यर्थ बर्बादी समझना, सूत्र सिद्धान्तों पर विश्वास को अन्धश्रद्धालुता बताना, कुल-क्रमागत कर्त्तव्य में रूढि का आरोप करना, उचित उपदेश देने पर कठोर कुतर्क करना, धर्म-कार्य की प्रेरणा देने पर 'बस-बस रहने दो' कहना।

और यदि धन तथा जवानी के साथ प्रभुता-अधिकार का भी समावेश हो जाय तब तो मनुष्य बिच्छू-काटे बन्दर की तरह, मद पीये हुए हाथी के समान, अवकर (उकरडे) पर खडे ऊँट के तुल्य, मिश्री का पानी पिए सन्निपातरोगी के सदृश बन जाता है। भूमण्डल मे कौन-सा कार्य है जो वह नहीं करना चाहता? अविवेकी फिर तो पृथ्वी पर पैर भी रखना नहीं चाहता। हाय! तुच्छता प्राय भयकर होती है। बिन्दु-मात्र विष वाला बिच्छू पूछ को ऊँचा करता हुआ क्या जगत् को भयभ्रान्त नहीं बनाता? क्या अन्तर मे डरपोक कुत्ता भौंककर यष्टिहीन पथिकों को नहीं डराता? अपूर्ण घडा पानी उछालता हुआ लाने वाले के कपडों को नहीं भिगोता? शरत्काल के शून्य-प्राय मेघ क्या बहुत नहीं गरजते?

नाश की पहली अवस्था बुद्धि विपर्यय है। बुझने वाला प्रदीप बुझने से कुछ पहले एक बार चमकता है।

वास्तव मे वस्तुओ का परिपाक-काल ही उनका अन्तिम क्षण होता है। पके हुए पत्त क्या जमीन पर नही गिरते ? विज्ञ वद्य पकने पर ही व्रण का छेदन करते हैं घड़ा भर जाने पर ही पानी मे डूबता है। प्रकृति कदापि सीमा का उल्लघन सह नही सकती। उसका प्रतीकार स्वय शीघ्र हो जाता है।

चार उन छ ही पुरुषो ने अनेको निरपराध व्यक्तियो को पीडित किया अनेक निर्बलो को लूटा और अनेक कुल-वधुओ का सतीत्व नष्ट किया। उनके कुकृत्यो को हृदय से नागरिकगण बुरा समझते हुए भी राजा के प्रति बहुमान के कारण सब कुछ सहते रहे। परिणाम यह हुआ कि उपचार के द्वारा न मिटाई गई रोग-परम्परा की तरह उनकी उद्दण्डता खूब बढती गई। नीतिज्ञो की उक्ति युक्तियुक्त है— *अपराधो का सहना भी अपराध है अन्याय करने* वालो की उपेक्षा अ याय पीडितो पर अत्याचार है। व्यक्तितन्त्र राज्य मे ऐसे दोष प्राय होते ही हैं। हाँ प्रजातत्र मे ऐसे दोषो का होना प्राय सम्भव नही है। यद्यपि भ णिक राजा ने ऐसा हुक्म नही दिया था कि ये कछ भी अनु चित करे इन्हे दण्ड नही दिया जायगा फिर भी वे अपने अहकार से गर्हित आचरण करते रहे और बार-बार अनधिकार चेष्टा भी।

एक दिन कमलकोशो के साथ निद्रा ग्रस्त जनो को जाग्रत करता हुआ जगत्व्यापी अ धकार को चाम्दनी के साथ तिरोहित करता हुआ चोरो के साहस को चकवो के शोक के साथ निरस्त करता हुआ च द्रमा के साथ दीपो की श्रेणी को अकिंचित्कर बनाता हुआ विद्यमान तारागण को घूक-समूह के साथ अदृष्ट बनाता हुआ पहरेदारो को कुमुद (च द्रविकासी कमल) वन के साथ सुलाता हुआ और जगत् को निर्भय बनाता हुआ सूय प्राचीन दिशा मे उदित हुआ।

स्वर्ण-वर्ण वाली चचल फलती हुई सूर्य की किरणो को देखकर पक्षी समूह सानन्द ऊँचे-नीचे आकाश मे उडने लगे। पथिक अपने-अपने गतव्य पथ पर चलने लगे। कुछ व्यक्ति अपने अपने इष्टदेव का स्मरण करने लगे। जैन मुनि प्रतिक्रमण को पूर्ण करके प्रति लेखनादि कृत्य करने लगे। श्रावक जन सावधान होकर शुद्ध सामायिक करने लगे। कुछ मौन व्रतधारी व्यक्ति नमस्कार *महामत्र की माला फेरने लगे। अबोध बालक दूध मागते हुए मा के चारो* तरफ खेलने लगे। स्तनपायी शिशु माता का अचल पकड कर किसी वस्तु को मागते हुए रोने लगे। बगल मे पुस्तकें दबा कर जल्दी-जल्दी पैर उठाते हुए

कुछ बालक विद्यालय जाने लगे। कुछ बच्चे खेल मे तत्पर होते हुए विद्यालय जाने से दिल चुराने लगे। कतिपय दूधमुँहे सुस्त बच्चो को उनकी माताएँ "उठ-उठ, जाग-जाग, देख, सूर्य तेरे सिर पर आ गया है" ऐसे सुधा-सदृश वचनो से जगाने लगी और दुकानदार अपनी-अपनी दुकानो को साफ करने लगे।

अहा! एक सूर्य कितने कार्य करता है! कितने व्यक्तियो को मार्गदर्शन कराता है! कितने खेल-उद्यानो की ताप से बढाता है! कितने कर्दम-क्लिन्न पथो को सुखाता है! सूर्य की परोपकार वृत्ति अनोखी है! इसीलिए सूर्य को जगत्-चक्षु, जगत्-बाधव आदि गौरवयुक्त नामों से दुनिया पुकारती है।

अर्जुनमाली भी उदीयमान स्वर्ण-वर्ण सूर्य को देखकर सोचने लगा "अरे! याद आया, आज उत्सव का दिन है। अहो! यह सूर्य कैसे-कैसे नये-नये महोत्सवमय दिन दुनिया के सामने उपस्थित करता है? सूर्य के सहारे कैसे-कैसे सुन्दर अवसर लोगो को प्राप्त होते हैं। पर थोडे ही व्यक्ति समय को सफल बना सकते हैं। विज्ञजन ही समय का मूल्य समझते हैं, मूर्ख तो समय बिताने के लिए कोई बिना प्रयोजन का खेल शुरू कर देते हैं। मुझे भी आज शीघ्रता करनी चाहिए और फुलवाडी मे जाकर फूलो को चुनना चाहिए। वरना यह अवसर हाथ से निकल जायेगा। फिर उसे पकडने का कोई उपाय नही है।" ऐसा विचार कर माली अर्जुन शीघ्र शौच स्नानादि कृत्यो को समाप्त कर सधर्मिणी बन्धुमती के साथ उद्यान की तरफ चल पडा। 'आज मेरे फूलो की बहुत बिक्री होगी', ऐसा विचार कर उसी क्षण पुष्पवाटिका मे पहुँचा। बन्धुमती भी, अपने किसलय कोमल हाथो से अपने मस्तक के स्निग्ध-श्यामल केशो से स्पर्धा करने वाले एव मकरद का आस्वादन करनेवाले भ्रमरो को भगाती हुई चतुराई से कमलनालो को मोडकर पुष्पो को वास की पिटारी में चुनकर रखने लगी। 'अपनी जन्मभूमि को त्याग कर भी हम धनाढ्यो के मस्तक पर और लीलावती स्त्रियो के कठ मे निवास करेंगी" मानो ऐसा सोचकर हसती हुई अर्धविकसित कलियों को, विकस्वर शिरीष कुसुम के तुल्य कोमल कर-स्पर्श से उसने चुना। माली ने भी चुने हुए फूलो मे से एक-एक वर्ण वालो का एकत्रित किया। फिर लम्बे धागे वाली सुई से विभिन्न वर्ण वाले फूलो को लेकर चतुराई से माला के रूप मे तत्काल गूथ लिया। सुगन्धरहित केवल देखने मे सुन्दर फूलो की कतिपय मालायें अलग ही बनाई। कई फूलो के गेंद के आकार के गुच्छे बनाये। फिर एक विशाल पात्र मे कपडा बिछाकर महीन धागे से पुष्पो के वृन्तो को पिरोकर दक्षिणावर्तादि विचित्राकार से गुलदस्ते बनाए। कुछ फूलों को तो चतुराई से खुला ही रखा।

इस प्रकार वह अपने कार्य को समाप्त कर यक्ष-पूजन के निमित्त जब पत्नी सहित उद्यान की तरफ बढने लगा तो सूर्य-सांड की तरह स्वच्छन्द भटकते हुए, पिशाच की तरह अट्टहास करते हुए भूताविष्ट की भांति बुरी चेष्टाएँ करते हुए वायु रोगी के समान प्रलाप करते हुए कभी दौड़ते और कभी परस्पर कंधो पर हाथ डालते हुए तूफान मे आए जहाजो की तरह काल के द्वारा आकृष्ट वे छहो पुरुष उस उद्यान मे यक्षमन्दिर के पास आ पहुंचे।

तृतीय समुच्छ्वास

मदान्ध मनुष्य उन्मत्त हाथी की भांति क्या-क्या अनर्थ नहीं कर डालता ?
—सूक्ति मुक्तावलि ।

इधर खिले हुए फूलों की सुगन्ध से समस्त दिशाओं को सुरभित बनाता हुआ, सौरभ पर मस्त बने भ्रमरों द्वारा मजुल गुंजारव के मिष से स्तुति प्राप्त करता हुआ, मस्तक पर फूलों से भरा पात्र रखे हुए, विचारमग्न दृष्टि से, इधर-उधर नहीं झांकता हुआ, सरलता की प्रतिमूर्ति के समान अर्जुन को आते देखकर वे छहों पुरुष परस्पर इस प्रकार कहने लगे—

पहला—कौन है ? सामने के पथ से यह कौन मूर्ख आ रहा है ?

दूसरा—नहीं जानते ? यह युधिष्ठिर का छोटा भाई अनगधनुर्धर (फूलों वाला) अर्जुन है ।

तीसरा—अरे ! इसके पीछे मन्द-मन्द गति से चलने वाली यह कामिनी कौन है ?

चौथा—अरे ! नहीं जानता ? यह इस कृष्णावतार की कमनीय कान्ता है ।

पांचवां—मन्द-बुद्धि विधाता ने कलहंसी कौए को क्यों अर्पित कर दी ?

छठा—सुधा को भी मात करने वाली यदि इसकी अधर-माधुरी का पान न किया तो जवानी वृथा ही गँवाई ।

बीच में ही एक—तब फिर देर क्यों ? झटपट मन चाहा कर डालो ।

दूसरा—इसके साथ इसका पति है, बलात्कार कैसे किया जाय ?

हँसकर एक दूसरा—अरे ! तुम बहुत डरपोक हो । ऐसे तो बेचारे सैंकड़ों घूमते हैं ।

एक ने मुंह मरोड़कर—समझ-बूझकर काम करना चाहिए, जिससे सांप भी मर जाए और लाठी भी नहीं टूटे ।

इस प्रकार वह अपने कार्य को समाप्त कर यक्ष-पूजन के निमित्त जब पत्नी सहित उद्यान की तरफ बढ़ने लगा तो सूर्य-सांड की तरह स्वच्छन्द भटकते हुए पिशाच की तरह अट्टहास करते हुए भूताविष्ट की भांति बुरी चेष्टाएँ करते हुए वायु रोगी के समान प्रलाप करते हुए, कभी दौड़ते और कभी परस्पर कंधों पर हाथ डालते हुए तूफान में आए जहाजों की तरह काल के द्वारा आकृष्ट वे छहों पुरुष उस उद्यान में यक्षमंदिर के पास आ पहुंचे।

तृतीय समुच्छ्वास

मदान्ध मनुष्य उन्मत्त हाथी की भांति क्या-क्या अनर्थ नहीं कर डालता ?
—सूक्ति मुक्तावलि ।

इधर खिले हुए फूलों की सुगन्ध से समस्त दिशाओं को सुरभित बनाता हुआ, सौरभ पर मस्त बने भ्रमरों द्वारा मजुल गुंजारव के मिष से स्तुति प्राप्त करता हुआ, मस्तक पर फूलो से भरा पात्र रखे हुए, विचारमग्न दृष्टि से, इधर-उधर नहीं झाकता हुआ, सरलता की प्रतिमूर्ति के समान अर्जुन को आते देखकर वे छहों पुरुष परस्पर इस प्रकार कहने लगे—

पहला— कौन है ? सामने के पथ से यह कौन मूर्ख आ रहा है ?

दूसरा—नहीं जानते ? यह युधिष्ठिर का छोटा भाई अनगधनुर्धर (फूलो वाला) अर्जुन है ।

तीसरा—अरे ! इसके पीछे मन्द-मन्द गति से चलने वाली यह कामिनी कौन है ?

चौथा—अरे ! नहीं जानता ? यह इस कृष्णावतार की कमनीय कान्ता है ।

पाचवाँ—मन्द-बुद्धि विधाता ने कलहसी कौए को क्यो अर्पित कर दी ?

छठा—सुधा को भी मात करने वाली यदि इसकी अधर-माधुरी का पान न किया तो जवानी वृथा ही गँवाई !

बीच मे ही एक—तब फिर देर क्यो ? झटपट मन चाहा कर डालो ।

दूसरा—इसके साथ इसका पति है, बलात्कार कैसे किया जाय ?

हँसकर एक दूसरा—अरे ! तुम बहुत डरपोक हो । ऐसे तो बेचारे सैकड़ो घूमते हैं ।

एक ने मुह मरोडकर—समझ-बूझकर काम करना चाहिए, जिससे साँप भी मर जाए और लाठी भी नहीं टूटे ।

दूसरा धीरे से कहता है—तो बताओ कैसे काम बने ?

हँसते हुए दूसरे ने कहा—अधिक मस्तिष्क घुमाने की जरूरत नही एक युक्ति बताता हूँ।

सब जोर से हस कर—बोल बोल तू ही बुद्धि मे अभयकुमार है।

वह—सुनो हम लोग पहले ही से यक्षालय मे जाकर कपाटो के पीछे छिप जाए। श्वासोच्छ्वास की आवाज भी न करते हुए उसकी प्रतीक्षा कर। जब अर्जुन प्रतिमा के सामने जमीन पर मस्तक लगाकर सहर्ष प्रणाम करे तब जैसे बाज चिड़िया पर झपटता है उसी तरह हम उस पर अचानक टूट पड़े। उसके हाथ पर जोर से पकड़ कर पीठ की तरफ बाँध दें। उसे उसी दशा मे वही छोड़ अपना वाछितकार्य नि सकोच सिद्ध करे। यह बेचारा अकेला क्या कर लेगा ?

सभी तालियाँ बजाते हुए— तू धन्य है। सौ-सौ बार धन्य है। कैसा सरल मार्ग तूने बताया है। तेरी तीक्ष्ण-बुद्धि के सामने तो शेषनाग भी लज्जा अनुभव करता है। तू पुरस्कार योग्य है। इस प्रकार कहकर वे हाथापाई करते हुए जोर-जोर से हसने लगे।

उनमे से एक—अरे ! यह बस नजदीक आ गया है अब ज्यादा देरी करना ठीक नही। कही ऐसा स्वर्णिम अवसर हाथ से न चला जाए।

यह सुनकर चलो जल्दी चलो। इस प्रकार कहते हुए किसी जगह गड़े हुए धन के लोभ से जैसे कृपण एक-एक से आगे भागते है वैसे वे कामुक पुरुष यक्ष भवन मे आ पहुचे। दोनो कपाटो के पीछे अपने प्राण को छिपाते हुए चूहा पकड़ने को जसे बिडाल चुपचाप ठहरता है, वैसे ठहर गये।

कामान्ध व्यक्तियो की साहसिक प्रवृत्ति को धिक्कार है। उनकी निर्लज्जता निन्दनीय है। उनकी नृशसता तलवार से भी तीखी है। उनकी कलुषता भरी मानसिक प्रवृत्ति काजल से भी ज्यादा काली है। उनकी काम-ज्वर की ज्वाला दावाग्नि को भी ठण्डी सिद्ध कर देती है।

स्मृतिमात्र से ही बढने वाली विषमायुध काम की विषम विष-लहरी तालपुट से भी बढ कर है। कदर्प के कोमल पाँचबाण तामस शुस्त्र एव अग्निबाण को भी मात करते हैं। दिग्विजयी विद्वत्शिरोमणि भी यहाँ आकर ठोकर खा जाते हैं। इन्द्रादि द्वारा पूजित बड़े-बड़े ऋषि भी यहाँ आते पतित हो जाते हैं। विश्वविजयी भी सीमन्तिनी के सामने घुटने टेक देते हैं। हाय ! विधाता ने यह अमृत जैसा प्रतीत होता जहर क्यो बनाया ? यह कैसा विचित्र

पाश है, जिसमे बँधा हुआ भी मनुष्य सुख मानता है ? यह कैसा अद्भुत कीचड है, जिसमे डूबा हुआ भी व्यक्ति हैरान नही होता ? आर्द्रकुमार भी यहाँ आता निद्रित हो गया। नदीषेण भी इसी कूप मे गिर पडा। इस राक्षसी की दाढ मे आषाढ मुनि भी आ गये। अन्य मतावलबियो के हरिहरादिक देव भी इन मृगाक्षियो के सामने लज्जित हुए। इन्द्र भी इस पुष्प-धनु के सामने विडम्बित हुआ। अहो ! कहाँ तक वर्णन करूँ, स्त्रियो के निमित्त क्या क्या अनर्थ नही हुए ? स्त्रियो की लिप्सा ने कितनी लडाइयो का आह्वान नही किया ? लीलावतियो के लापत्य से कितने योद्धा मृत्यु के ग्रास नही हुए ? कामिनी के वश होकर कितने यशस्वी तिरस्कार के भाजन नही बने ? क्या वर्णन करूँ, यह कोकिलकण्ठी त्रिलोक को भी शोकाकुल बनाती है। जिस प्रलय-पवन से पर्वत भी कम्पित हो जाते हैं वहाँ पके हुए पत्तों के गिरने मे क्या शका है ? जिस दावानल मे महान् अरण्य भी भस्मीभूत हो जाए, वहाँ रुई के ढेर के जलने की बात ही क्या है ? जिस काम के द्वारा बडो-बडो की कदर्थना हुई, वहाँ इन छह कामुक कीडो की क्या गणना है ?

जम्बूकुमार और स्थूलभद्र जैसे इने-गिने विरले महामानव धन्य हैं, जिन्होने त्रिभुवन को जीतने वाले महा बलवान् कामदेव राजा की सेना को ब्रह्मचर्य रूप खड्ग द्वारा पराजित किया और बुरी तरह से मृत्यु के घाट उतारा।

अब, जब मुद्गरपाणियक्ष के मन्दिर मे पहुँच कर अर्जुन फूल चढाता हुआ शान्ति से प्रतिमा को प्रणाम करने लगा, तभी वे ललित नाम वाले दुराचारी, —"इस दुष्ट को पकडो, पकडो" यो कहते हुए बिजली की तरह उस पर टूट पडे। झटपट किसी ने उसका दाहिना हाथ जोर से पकडा तो किसी पापी ने बाया हाथ मरोड कर पकड लिया। किसी ने बाया पैर खींचा तो किसी ने दाहिना पैर। दूसरे दो व्यक्तियो ने लोहे की साकल-जैसी कठोर रस्सी से उस माली को मत्स्य की तरह पृष्ठ भाग मे बाँध दिया। अर्जुन तो समझ भी नही पाया कि यह क्या हुआ ? वह क्षण भर के लिए स्तब्ध-सा हो गया। कुछ बोल ही नहीं सका।

बँधे हुए अर्जुन को वही छोडकर वे कामान्ध पुरुष मन्दिर के भीतर प्रवेश करती हुई बधुमती को निर्लज्ज भाषा में इस तरह कहने लगे—"अरे ! आ ! आ ! लावण्य-लीला-लहरी ! प्राणप्रिये ! हम लोगो का मनोरथ पूर्णकर ! भागीरथी गगे ! काम-कीचड से भरे हुए हम पापियो को पवित्र कर ! यौवन की मेघमाला ! काम-ताप से सतप्त हम राहगीरो को प्रेम-वृष्टि से शीतल बना। हे सुभ्रू ! हम कामार्तों को क्यो घुमा रही हो ? हे मोहनवल्ली !

हूरे भरे वृक्षो का आलिंगन क्यो नही करती हो ? हे वसुधा पर अवतरित सुधा ! क्यो नही हम चेतनारहित प्राणियो को जीवितदान देती हो ? इस तरह विषय-विषाक्त अनगल वचन बोलते हुए वे मृत्यु के समान उस बधुमती का आलिंगन करने को तत्पर हुए।

श्येन पक्षी का आक्रमण होने पर जैसे चील और सिंह दिखाई देने पर जैसे हरिणी कांपती हुई किंकर्तव्यविमूढ हो जाती है वही दशा बन्धुमती की हो गई। उसके तालु जिह्वा होठ सूख गये। आसपास कोई शरण न देखकर आँखो के सामने नीलपीतादि रगो वाला अधकार छा गया और उसके मुख-कमल की स्वच्छ कान्ति श्यामल हो गई। भग्न-स्वर से वह बार-बार पुकारने लगी— हे प्राणेश ! मुझ अबला की रक्षा करो रक्षा करो ! हे पतिदेव ! दौडो शीघ्र दौडो ! धर्म नष्ट करने वाले ये गुण्डे मुझ पर आक्रमण कर रहे हैं। इस तरह चिल्लाती हुई उस बन्धुमती को जमीन पर गिराकर वे छ ही दुराचारी बलात्कार करने लगे।

यक्ष प्रतिमा के सामने पीठ से बाँध हुए माली ने अपनी प्राणप्रिया का पत्थर को भी पिघला देने वाला रुदन सुना और दुष्टो के द्वारा की गई स्त्री की कदर्थना भी देखी। तत्काल उसके होठ कांपने लगे। ललाट पर त्रिवली तन गई और क्रोध से आँखो मे उषा-काल की-सी लालिमा छा गई। इन दुष्टो को पापियो को दुराचारियो को नीचो को क्षण भर मे चोट पहुँचा दू नीचे गिरादू मार डालू इनका प्राण हरण करदूं इस तरह मन ही मन जोश खाते हुए एव जाज्वल्यमान क्रोध-ज्वाला से प्रौढ पराक्रमी बनते हुए माली ने बन्धन तोडने की बहुत चेष्टा की। सारे शरीर की ताकत से हाथ पैरो को ऊचा नीचा करने का अत्यन्त प्रयत्न किया। लेकिन निकाचित कर्म-बन्धन से बद्ध जीव की तरह उन बन्धनो को तोडने मे समर्थ नही हुआ। अफसोस ! एक तिर्यच भी अपनी प्रिया का तिरस्कार नही सह सकता तो फिर विवेकशील हाथ-पैर वाला मनुष्य तो सहे ही कैसे ?

पिंजरे मे बधे सिंह की तरह स्तभ से बध हुए हाथी की तरह अर्जुन के सारे शारीरिक प्रयास व्यर्थ गये। क्रोध से थर-थर कांपता हुआ अत्यन्त सतप्त हुआ माली वही पडा-पडा विचारने लगा—हाय ! हाय ! आज यह क्या हुआ ? कैसे दरिद्र सूर्य का दर्शन हुआ ? यह कैसा दुर्दशा-दर्शक दिन है ? यह कैसी प्रलय की वेला है ? यह कैसी दुर्घटना वाली घडी है ? कोई दूसरा मनुष्य भी तो यहाँ नही है जिसके सामने पुकार करू। अरे ! रे ! मैंने वृथा ही इस मुद्गरपाणियक्ष की प्रतिमा का पूजन किया। हा ! हा ! मैंने वृथा ही फूल

भेंट चढाये। अरे! मैंने व्यर्थ ही चन्दनादि द्रव्यों से इसकी अर्चना की। हाय! मैंने वृथा ही इसके सामने मस्तक घिसा। आज मेरा सब कुछ होमा हुआ राख मे गया। मेरी सारी क्रियाएं प्रवाह मे मूत्र के समान अदृश्य हो गई और मेरा सब किया कराया अरण्य-रुदन-सा सिद्ध हुआ।

हे शक्तिशून्य प्रतिमे! आखें फाडकर क्यो भक्त की कदर्थना देख रही है? रे जडमयी! अपने अस्तित्व को प्रकट करने मे क्या तुझे शर्म आती है? चेतनाहीने! कोई भी शक्तिशाली भक्तो की दुर्दशा नही देख सकता। तू अपने सामने हो रही दुर्घटना को दूर न करती हुई क्यो नही दो चुल्लू पानी में डूब कर मर जाती? लोग विस्तृत स्तवना द्वारा व्यर्थ ही तेरी स्तुति करते हैं। हाय! अधो के पीछे अधे चलते है। धिक्कार है मेरे अविवेकी पूर्वज-पुरुषो को, जिन्होने ऐसी निन्दनीय पूजा की कुल-परम्परा चलाई। काष्ठमूते! क्यो मन्दिर मे बैठकर मूढ जनों को धर्म से च्युत करती है? क्यो नही जाज्वल्यमान अग्नि मे पडकर राख की ढेरी बन जाती? पतितसत्वे! तेरी इस शक्तिहीन स्थिति से क्या लाभ है? हे निष्क्रिये! क्यो वृथा गौरव धारण करती है। जब कि अवसर आने पर भी कार्य नही साध सकती? उस तेज घोडे से क्या लाभ, जो दशहरे के अवसर पर भी नही दौडता? बडे-बडे स्तनों वाली उस गाय से क्या प्रयोजन, जो कभी दूध ही नहीं देती? उस धन्वन्तरि वैद्य का क्या किया जाय, जो चिकित्सा करने के अवसर पर भी प्रमाद मे पडा रहे? अयि मुद्गरधारिणी! तेरे अन्त सारशून्य मुद्गर की विभीषिका से क्या अर्थ? तेरे देवतापन की आज पोल खुल गई। तेरा प्रभाव-वैभव सब नष्ट हो गया। तेरा सारा चमत्कार-चातुर्य विलीन हो गया। तेरा वास्तविक रूप आज विदित हो चुका। सबके हृदय से तेरे प्रति विश्वास आज उठ गया। आज के बाद तुझे कोई पूज्य भाव से नही देखेगा और न तेरे सामने कोई उत्तम उपहार रखेगा। यही नही, तेरा यह स्थान शून्य रहने से रात को गधो का निवास बनेगा। तेरा स्नान कुत्तो के मूत्र से होगा। दिन-रात कबूतरो की ध्वनि से तेरी स्तुति होगी। पक्षियो के बच्चो की विष्ठा से तेरी चर्चना होगी। उल्लुओ के शब्द से तेरी घटा बजेगी। रात को घूमने वाले सापो की मणि से यहाँ प्रकाश होगा।"

इस तरह कल्पना-जाल बुनते हुए, सहायहीन अवस्था मे यक्ष को बार-बार उपालभ देते हुए और क्रोध की विवशता से बार-बार शाप देते हुए उस अर्जुनमाली के शरीर मे, आसन चलित होने से सारी दुखद घटना को जानकर, भक्त की सेवा के लिए तत्परता से आकृष्ट होकर, कुछ चमत्कार दिखाने के लिए यक्ष शक्तिरूप से तत्काल प्रविष्ट हुआ। उसी समय उसके शरीर मे निग्रह करने

मे सक्षम हाथी के बल को भी परास्त करने वाली पहाडो को भी चूर्ण कर देने मे समर्थ शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ क्योकि देवताओ का प्रभाव अचिन्तनीय है। कमल-नाल की तरह या कच्चे धागे की तरह उन बन्धनो को तत्काल उसने अनायास तोड डाला। तभी वह सहस्रपल भार वाला यमराज के दण्ड के समान उस मुद्गर को उठा कर आखो से खून बरसाता हुआ दौडा। वह बार बार मुह से पुकार रहा था—पापियो के प्रमुखो! दुराचारियो! दुष्टो! ठहरो ठहरो! तुम कामार्तों के पास काल आ ही धमका समझो। निर्लज्जो! दुराचार करने मे तो तुम लोगो का दुश्चरित्र कुत्तो से भी बढकर है। रे कामान्धो! सभी जगह तुमने धाधली मचा दी। अब तुम्हारे दु साध्य रोग की प्रतिक्रिया हो चुकी। अब तुम्हारा अपराधी जीवन गया ही समझो। पतन योग्य तुम्हारे प्राण प्रयाण करने वाले ही है।

वे विषयलोलुप देख भी नही पाए तब तक तो भयानक आकृति वाला अर्जुन मुद्गर उठा कर छहो पर टट पडा। प्रचण्ड क्रोध के कारण पहले से ही उसका बल दूना बढ चुका था। यक्ष प्रवेश से और अधिक बढे हुए पराक्रम से उसने इतने जोर से मुद्गर का प्रहार किया कि मिट्टी के भाडे की तरह उन छहो के मस्तक तीव्र ध्वनि के साथ भग्न हो गये। उनके मुह से गर्म रक्त की धारा बह चली मानो वह विषयराग की लालिमा प्रकट कर रही हो। हमने देखने मे बहुत पाप किया है' ऐसा पश्चात्ताप करते हुए उनके अक्षिगोलक बाहर निकल पडे। हम ऊची होकर क्या करेंगी —मानो यह विचार कर उनकी नासिकाए लज्जा से नीची हो गई। दूसरो को चबाने वालो का निश्चित ही पतन होता है —मानो यह तथ्य अपने दृष्टान्त से प्रकट करते हुए उनके दात भूतल पर गिर पडे। लम्बे निश्चेष्ट काष्ठ की तरह वहा पडे हुए उनके कलेवर मानो कह रहे थे— सब खाने के इच्छुक शृगाल कुक्कुर गीध आदि आए मन भर पेट-पूर्ति कर लें।

इस तरह उन सबको नाम शेष करके भी माली के क्रोधाग्नि की सर्वतोमुखी ज्वाला शान्त नही हुई। विकृत-वेष वाली बन्धुमती को देख कर कोपकर्कश वाणी से भर्त्सना करते हुए वह कहने लगा— री दुष्टे! अब तक क्यो जी रही है? पतिव्रत धर्म नष्ट हो जाने पर भी मुह दिखाने तुझ शर्म नही आती? जीवन प्यारा है मगर धर्म उसस भी बढ कर प्यारा है। तत्त्ववेत्ता पुरुष शाश्वत धर्म के लिये क्षणिक जीवन को तृणवत् समझते हैं। रे पापनी! तूने जीवन के व्यामोह से धर्म को त्याग दिया। पतित जीवन वाली! जब वे छ नीच पुरुष बल प्रयोग करके तुझे स्पर्श करने लगे तब तू ने क्या न रचनात्मक काय किया?

जिह्वा खींच कर उसी समय क्यो न मर गई ? किन्तु अर्थ शून्य-बेकाम, "प्राणेश्वर ! बचाओ, बचाओ !" ऐसा प्रलाप करके उस समय तूने क्या सतीत्व की उत्कृष्टता दिखलाई ? क्या तूने बहुत बार कानो से नही सुना कि धैर्यधुराधारिणी चन्दनबाला की माता धारिणी ने रथिक के बलात्कार करने पर उसी क्षण जिह्वा खींच कर प्राणो को त्याग दिया था । इस पृथ्वी पर सतियो का धर्म नष्ट करने मे कोई समर्थ नही है । महाबलशाली रावण भी सीता को छू तक नही सका । तेरे-जैसी कुलटाएं तो कामी-पुरुषो द्वारा चलित होती ही देखी जाती है । श्वास के विश्वास से जीवित बैठी हुई भी तू शीलनाश मे मरी हुई है, क्यो मेरे हृदय को दु खित बनाती है ? वे लोग जहाँ गए उसी स्थान पर तुझे भी मैं पहुँचाना चाहूँगा ।"

इस तरह आक्रोश करते हुए, हिताहित के विवेक से शून्य और पशु-बल को प्रश्रय देते हुए उसने अत्यन्तदीन से मानो काप रही हो, ऐसी भयभीत, मृत्यु-दण्ड के अयोग्य, कर्तव्य-कातरा कामिनी के मस्तक पर उसी मुद्गर का गाढ प्रहार किया । 'मत मारो, मत मारो,' कहती हुई वह बेचारी लम्बी निद्रा मे सो गई और वृक्ष से टूटी हुई शाखा की तरह भूमि पर गिर पडी ।

हाय ! हाय ! क्रोधान्धो की वृत्ति कैसी कलुषित होती है ? क्रोध-प्रवाह मे बहने वाले मनुष्यो की कैसी दयनीय दशा है ? खेद ! बिना विचारे ही उस दुष्ट ने यह दुष्कृत कर डाला ।

प्राणप्रिया बन्धुमती को मार कर अर्जुन रक्तपात-जनित अतिशय घाततायी-भावना से विचार करने लगा—"निश्चय ही यहाँ के सभी नागरिक प्राय दुराचारी हैं । इनमे सच्चरित्र का बल बिल्कुल नही है । यहाँ का राजा भी नीति से प्रजा पर अनुशासन नही करता । नगर में क्या हो रहा है, इस पर ध्यान तक नही देता । इसके शासन मे साधुओ को विषाद है, चारित्रशीलो को सकोच है । उन्मार्ग जाने वालो को प्रोत्साहन है । जीहुजूरो को पुरस्कार मिलता है, पाखडियों की सेवा होती है । दम्भरूप सप से डँसे हुओ को मान्यता मिलती है । धीराग्रणी दु खित रहते हैं । सत्यवादियों की कदर्थना होती है और श्रेष्ठ पुरुषों का उपहास होता है । अच्छा, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से प्रतिदिन छह-छह पुरुषो और एक स्त्री को इस मुद्गर से यमधाम पहुँचाऊँगा जिससे नागरिको समेत राजा भी अपने शासित स्वाधीन साम्राज्य के सुख का अनुभव करेगा । अपनी उद्दतता का परिणाम भी भुगतेगा ।"

रोष से अर्जुन के होठ काप रहे थे । उसके शरीर मे यक्ष प्रविष्ट था । वह मुद्गर उठा कर घूमने लगा और प्रतिदिन छह पुरुषो और एक स्त्री को

यमराज के पास पहुँचाने लगा। जब तक प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं होती तब तक वह विश्राम नहीं लेता।

छह नीच पुरुषों के अपराध के कारण वहाँ के कितने ही निरपराध व्यक्ति मृत्यु पाने लगे। हाय! एक ही घर में फेंका हुआ अग्निकण क्या पड़ोसियों के सकड़ों घरों को जला नहीं देता? एक दुर्योधन की दुर्नीति से क्या कौरव-वंश काल-कवलित नहीं हुआ? एक रावण के दुराग्रह से लंका के लोगों ने क्या कष्ट नहीं पाया? कुछ यादव-कुमारों के मदिरोन्माद से क्या देवलोक समान द्वारिका का दाह नहीं हुआ? यह उक्ति बिल्कुल सही है कि देश का त्याग करके भी दुर्जन से बचना चाहिए।

जनता में कोलाहल मच गया। दुर्भाग्य से यह क्या आकस्मिक उत्पात पैदा हो गया? महामारी जन-संहार के लिए यह कैसी फूट निकली? जन्म जन्मांतर में बोई हुई एवं अनेक दुर्व्यसन-जल से सिक्त पाप-बेल पल्लवित हो गई। प्रतिदिन किसी का भाई किसी का इकलौता पुत्र किसी का जामाता किसी किसी का पौत्र किसी की माता किसी की बहन किसी की भानजी अर्जुन द्वारा मारी जा रही है। सारा राजगृह हाय हाय के आर्तनाद से गूंज उठा। घर घर में दीन-स्वर से क्रन्दन ध्वनि सुनाई देने लगी। मार्ग में पुरवासी जन आपस में यही दुखद वार्ता करते। राजा के पास भी यह पुकार पहुँची। बहुत सावधानी से श्रेणिक ने उस उपद्रव को समूल दूर करने के लिए अनेक चेष्टा की पर लक्ष्य को न भेदने वाले बाणों की तरह राजा के सारे प्रयत्न विफल हो गए। मन्त्रीश्वर अभयकुमार ने भी इस उपद्रव की जाँच-पड़ताल की। आखिर वह निष्कर्ष पर पहुंचा कि यक्षाधिष्ठित शरीर वाला अर्जुन लोगों को मार रहा है। इस उपद्रव की शान्ति सामान्य शक्तिधर मनुष्य कर नहीं सकेगा। पर समय आने पर कोई महाशक्तिधारी व्यक्ति द्वारा ही यह उपद्रव शान्त होगा।

विफल प्रयत्न वाले प्रजावत्सल राजा ने उस उपद्रव से पीड़ित होकर नगर में यह उद्घोषणा करवादी कि— कोई भी चिरजीवित-कामी मनुष्य नगर के बाहर गुणशील उद्यान की दिशा में न जाए। यदि कोई अज्ञानवश या अपनी शक्ति के गर्व से चला जायेगा तो यमराज तुल्य अर्जुन गर्जारव करता हुआ उसको मार डालेगा और वहीं धराशायी हो जाएगा।

यह घोषणा सुनकर कोई भी नागरिक उस दिशा में जाता नहीं था। फिर भी कोई दुःसाहस करके कोई कौतुक के वश होकर कोई दिग्भ्रान्त होकर

मृत्यु की परवाह न करती हुई कोई कार्यमग्न वृद्धा, कोई गोमयादि (गोबर के कण्डे) लाने मे तत्पर बालिका, कोई दूध बेचने वाली अहीरी, कई दूसरे स्थान से आते हुए पथिक या गाडी वाले अर्जुन की प्रतिज्ञा को पूर्ण करते रहे। इस तरह पाच महीना तेरह दिन तक प्रतिदिन सात मनुष्यो के मारने मे तत्पर, अत्यन्त निष्ठुर चित्तवाले, आततायी, अर्जुन ने ११४१ व्यक्तियो को समूल उखाडा, मारा और जीवन से च्युत किया। हाय ! चड स्वभाव वालो की वृत्ति कसी चाडाली होती है !

चौथा समुच्छ्वास

नीतिज्ञ लोक निन्दा करे या प्रशसा लक्ष्मी अपनी इच्छा से घाए या जाए मृत्यु आज हो या युगो के बाद पर धीर व्यक्ति न्याय-मार्ग से एक कदम भी चलित नही होते। (भर्तृहरि)

वस्तु पर्यायरूप से प्रतिसमय परिवर्तित होती रहती है। उत्पाद-व्यय ध्रौव्य रूप त्रिभगी विविध भाव भगिमा से समस्त विश्वस्थिति को तरगित करती है। जैसे भौतिक सुख पवन से आन्दोलित तरगो की भांति चचल है वैसे ही दु ख भी क्षणिक है। वस्तुत ससार मे जो सुख है वही दु ख है और जो दु ख है वही सुख। मनस्वी पुरुष सुख की तरह दु ख को भी उपयोगी मानते है। रोग शान्ति के लिए लोग मधु की तरह नीम को भी सहर्ष पीते है। सुख मे फूलने वाले ही व्यक्ति दु ख मे दीनता दिखलाते है। समता को श्रेष्ठ मानने वाले महर्षि सशरीरावस्था मे भी मुक्ति-सुख का अनुभव करते है।

कोप विवश अर्जु न ने राजगृह की जनता को बहुत त्रास पहुचाया। जहाँ कही भी लोग इकट्ठे होते यही बात करते— कब यह नगरी इस कष्ट-समुद्र को पार करेगी ? रक्तपिपासु मालाकार की यह क्रोधरूप प्रचण्ड चण्डी कब तृप्त होकर मुह फेरेगी ? अभी तक कोई ऐसे चिह्न नही दीख पडते जिनसे यह व्यथा-ज्वाला शात हो। भगवन् ! हमने क्या ऐसे भयकर पाप किए हैं जिनके उदय से ऐसी भयानक विपत्ति-बेल बढती ही जा रही है ?

इस तरह दु ख कीचड मे कठ तक फँसे हुए वहाँ के सभी लोग विविध विकल्पो की शय्या मे सोते हुए नित्य दु स्वप्न देख रहे थे।

इधर भव्य जीवो के सौभाग्य-पवन से प्रेरित मेघ के समान जहाज से भव-समुद्र को स्वय तैरते और अपने आश्रितो को तारते हुए ग्रामानुग्राम विहार करते हुए और परोपकारमय जीवन बिताते हुए अरिहन्त भगवान् चौबीसवें तीर्थकर श्रीमद् वर्धमान स्वामी का राजगृह नगर के गुणशील उद्यान मे पदार्पण हुआ।

पूज्य देवाधिदेव के आगमन की सूचना धार्मिक लोगो को देता धर्म-चक्र आकाश मे चलने लगा। निर्द्वन्द्व, अचल एव अनन्त सुख के अभिलाषी भगवान् सदा आनन्दित रहते हैं मानो ऐसा आवेदन करती हुई देव-दुन्दुभि तीव्रध्वनि से आकाश मे बजने लगी। चलते हुए धर्मचक्र को देखकर और देव-दुन्दुभि का शब्द सुनकर राजा और पुरवासी लोगों ने जाना कि निश्चय ही परमपूजनीय चरम-तीर्थकर आर्य देवार्य का आगमन हुआ है और गुणशील उद्यान के भूभाग को पवित्र करते हुए विराजमान हैं। किन्तु अर्जुन के डर से वहाँ जाने मे असमर्थ श्रेणिक आदि समस्त श्रावको ने अपने-अपने स्थान पर ही विधि-सहित वन्दना की। अत्यन्त हर्ष से गुणग्राम का गान किया और धैर्य को शिथिल करते हुये कहा—भगवन्! हम अत्यन्त कायर हैं, इस कारण घर बैठे ही आपकी सेवा कर रहे हैं, साक्षात् दर्शन करने मे अक्षम हैं। वह भी कोई धन्य समय होगा जब आपका मुखचन्द्र साक्षात् देखेंगे और चरण-युगल का मस्तक से स्पर्श करेंगे।

सुदशन सेठ ने भी गगन मे चलते हुए धर्मचक्र को देखा और देव-दुन्दुभि का नाद सुना तो समझ लिया कि भगवान् का मगलमय आगमन हुआ है। हर्षातिरेक से उसका मुख-कमल विकस्वर और सारा शरीर रोमाचित हो गया। अरिहन्त का परमोपासक और निर्मल दृष्टिवाला सुदर्शन विचार करने लगा—"धन्य है आज का दिन, जिसमे मानो सोने का सूर्य उदित हुआ है। धन्य यह मगलमयी वेला और कल्याणकारिणी घडी। धर्मानुरागियो के द्वारा यह क्षण भी पूजनीय है। जिनके नाम-श्रवण मात्र से भी प्राणियो के समूह कृतकृत्य हो जाते है, उनका मैं आज साक्षात्कार करूँगा। सम्पूर्ण ससार में इससे बढकर क्या शुभ है ? आज मेरा पुण्य-नीर से सिक्त भाग्यवृक्ष फलित हुआ है। गुण-रत्नो का निधान मेरे पास आ चुका है।"

इस तरह सोचता हुआ सुदर्शन भगवान के दर्शन के निमित्त तैयार हुआ। परम प्रसन्न-मुद्रा में सज्जीभूत प्रस्थानोद्यत पुत्र को देखकर माता-पिता ने पूछा—'नन्दन! आज कहाँ जाने के लिए तैयार हुए हो? क्या किसी सहचर ने भोजन के लिए निमन्त्रण दिया है? किसी धर्मसभा में जा रहे हो? अथवा अन्यत्र कहीं?'

हाथ जोड कर सुदर्शन ने उत्तर दिया—'नही, माता-पिताजी! मैं तो अपने परमाराध्य इष्ट देव श्री महावीर प्रभु के दर्शन के लिए उत्कण्ठित हुआ हूं। वहीं जा रहा हूँ, कृपया मुझे शुभाशीष दीजिए।'

भयभीत होकर माता-पिता ने कहा—'क्या कहा? दर्शन के लिए उद्यान

मे ! ऐसी बात मत कहो । माली की नृशसता भूल गये क्या ? बेटा ! किसको भगवद् दर्शन अत्यन्तप्रिय नहीं है ! उनके द्वान्द्वातीत चरणयुगल को छूने की किसकी इच्छा नहीं होती । शान्ति मार्ग बतलाने वाली सुधावर्षिणी उनकी वाणी किसके कर्णमूल को पवित्र नहीं करती ? किन्तु समय अनुकूल नहीं है । वहीं वहाँ जाने मे विघ्न काल रहा है । हे कुलकेतु ! क्या नित्य होने वाला हत्याकाण्ड तूने नहीं सुना ? घर घर मे सुनाई देता आक्रन्दन क्या तेरे करुणा सरोवर को शुष्क नहीं बनाता ?

भगवान् तो केवलज्ञानी हैं । वे समस्त लोकालोक के भाव करामलकवत् प्रति समय देख रहे हैं । ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होने से गुप्त से गुप्त किया हुआ भी साक्षात निहार रहे है । हे वश के सूर्य ! महात्मा लोग भाव के भूखे होते हैं । व सात्विक वृत्ति वाले बाह्य आडम्बर को विशेषता नहीं देते । इसलिए इस असामयिक कार्य से निवृत्त बन । यहीं ठहरकर उत्कृष्ट भक्ति से और अत्यन्त शुद्ध हृदय से भगवान् को सविनय प्रणाम कर स्तोत्रादिसे उनका अभिवादन कर और आत्मानन्द म रमण करता हुआ आत्मा को पुष्ट कर । एवा करने से तेरी विनीत वन्दना विधिवत् स्वीकृत हो जाएगी । इसम कोई सन्देह नहीं है ।

किसी भी प्रकार की व्यग्रता न प्रकट करते हुए सुदर्शन ने कहा माताजी एव पिताजी ! आप क्यो कमजोरी की बात करते है ? महावीर के अनुयायियो मे क्या ऐसी कायरता उचित है ? जो महावीर के दृढ श्रद्धालु श्रावक है उन्हे कहीं भी भय नहीं है । भगवान की वाणी का निर्भयता से पालन करते हुए वे मृत्यु के मुख मे भी सुख मानते है । प्राणी आवीचिमरण की अपेक्षा से प्रतिक्षण मर ही रहा है । निश्चय यमराज मु ह मे डाले हुओ को निगलता हुआ गोद मे रखे हुओ को कसे-छोडेगा ? अध्रुव प्राणो के लिए यदि ध्रुव धम को छोड दू तो मेरे जैसा दूसरा कौन इस पृथ्वी पर मूर्ख होगा ? अविनश्वर आत्मिक सुख के निमित्त यदि नश्वर प्राणो का उत्सग करूँ तो चिरकाली के लिये वीरो के समूह म चक्रवर्ती का पद पा लूँगा । पूज्यवरो ! सोचना चाहिए कि यदि म अपनी आत्मा मे जन्तुमात्र के प्रति मैत्री रखता हू तो कौन मुझ से शत्रुता रखेगा ? यदि मैं सब सत्वो को अभय देता हूँ तो कौन मुझे भयभीत बना सकेगा ? सारे ससार को यदि मै बन्धु मानता हू तो अकारण ही कौन मेरा विर घ करेगा ?

क्या आपने देखा नहीं कि परम कारुणिक जिनेन्द्रदेव के पास सिंहनी मृगशिशु से स्नेह करती है ? बिल्ली भी चूहे को मारने के लिए नहीं झपटती ।

सर्पो को नौला व्याकुल नही करता । जन्मजात वैरी भी वैर छोडकर हार्दिक-सौहार्द धारण करते हैं । मै भी तो उन्ही भगवान् का शिष्य हूँ । यद्यपि मुझ मे वैसी अहिंसा की पराकाष्ठा नही है, फिर भी उनके प्रति तल्लीनता से और तादात्म्य सबन्ध से वही शक्ति पैदा हो जाएगी, इसमे कोई सशय नही है । हे माता-पिता ! यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो अजरामर आत्मा का कभी मरण नही होता । भाग्यशाली ज्ञानी पुरुष जीर्ण वस्त्रो के परित्याग मे कभी कष्ट की परिकल्पना नही करते । इसलिए हे वीर के समुपासको ! आप जिनराज के दर्शन के लिए उत्सुक प्रथम मगल अरिहन्तदेव को स्मृति मे लाते हुए, सवत भयरहित पुत्र को सहर्ष आज्ञा दीजिये । किसी प्रकार की आशका न कीजिए । शुभ कार्य करते हुए अपने पुत्र का सानन्द हौसला बढाइए ।"

माता पिता, प्राणप्रिय सुदशन के वीरता से विलसित, कायरता से रहित, सुन्दर विचारो से पूर्ण और भावी हित के द्योतक वचन सुनकर और उसकी निश्चल भावना को लक्षित कर हृदय मे डरते हुये भी "जैसा सुख हो वैसा कर"—कहकर मौन रह गये ।

सुदशन ने सानन्द वीरदर्शन के लिए पैदल प्रस्थान किया । उत्तरासगादि मे शोभित दर्शनोचित वेशभूषा को देखकर रास्ते मे मिले अनेक सवयस्क लोग प्रस्थान का कारण पूछने लगे । और 'श्री वीर प्रभु के दर्शन को जा रहा हू' ऐसा सुनकर सभी स्तब्ध-चित्रलिखित-से हो गये । तत्पश्चात् प्रेमपूर्ण वाणी से कहने लगे—"मित्र ! वहा जाने के लिए यह समय कल्याणकारी नही है । समय को नही पहचानने वाले विद्वान् भी मूर्ख-शिरोमणि कहे जाते है । भगवान् यहा बहुत बार पधारे हैं और पधारेगे । हम उनके मगलमय दर्शन का निषेध नही करते, किन्तु उनके दर्शन-स्थल को पाएगा कौन ? पहले ही मार्ग मे साक्षात् यम के समान दारुण अर्जुन के दर्शन होगे और वह हाथ में धारण किए मुद्गर से प्राणो का अन्त कर डालेगा । इसलिए हे मित्र, हमारी शिक्षा को मानो, अभी मत जाओ ।"

स्मित-मुद्रा मे सुदशन ने कहा—"अतिआश्चर्य है सहचरो ! क्या ही सुन्दर विचार है आप लोगो का ! आप क्या कल्याणकारी कार्य करेंगे, जिनकी आत्मा इतनी दुबल है और जिनको मरने का इतना भय है । कल्याणकारी कार्य से ही कल्याणकारी काल बनता है, न कि कल्याण की कल्पनामात्र से । उद्योगी कर्मशील व्यक्ति समय की प्रतीक्षा नही करते, प्रत्युत समय उनकी प्रतीक्षा करता हुआ उपस्थित रहता है । विद्वानो ने कहा है—शुभ कार्य शीघ्र

में ! ऐसी बात मत कहो। माली की नृशसता भूल गये क्या ? बेटा ! किसको भगवद् दर्शन अत्यन्तप्रिय नही है ! उनके द्वन्द्वातीत चरणयुगल को छूने की किसकी इच्छा नही होती। शान्ति मार्ग बतलाने वाली सुधावर्षिणी उनकी वाणी किसके कर्णमूल को पवित्र नही करती ? किन्तु समय अनुकूल नही है। वही वहाँ जाने म विघ्न डाल रहा है। हे कुलकेतु ! क्या नित्य होने वाला हत्याकाण्ड सुने नही सुना ? घर घर म सुनाई देता आक्रन्दन क्या तेरे करुणा सरोवर को शुष्क नही बनाता ?

भगवान् तो केवलज्ञानी है। वे समस्त लोकालोक के भाव करामलकवत् *प्रति समय देख रहे है। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होने से गुप्त से गुप्त किया* हुआ भी साक्षात् निहार रहे हैं। हे वश के सूर्य ! महात्मा लोग भाव के भूखे होते है। व सात्विक वत्ति वाले बाह्य आडम्बर को विशेषता नही देते। इसलिए इस असामयिक कार्य से निवृत्त बन। यही ठहरकर उत्कृष्ट भक्ति से और अत्यन्त शुद्ध हृदय से भगवान् को सविनय प्रणाम कर स्तोत्रादिसे उनका अभिवादन कर और आत्मानन्द मे रमण करता हुआ आत्मा को पुष्ट कर। एसा करने से तेरी विनीत वन्दना विधिवत् स्वीकृत हो जाएगी। इसमें कोई सन्देह नही है।

किसी भी प्रकार की व्यग्रता न प्रकट करते हुए सुदर्शन ने कहा माताजी एव पिताजी ! आप क्यो कमजोरी की बाते करते है ? महावीर' के अनुयायियो मे क्या ऐसी कायरता उचित है ? जो महावीर के दृढ श्रद्धालु श्रावक है उन्हे कही भी भय नही है। भगवान् की वाणी का निर्भयता से पालन करते हुए वे मृत्यु के मुख म भी सुख मानते है। प्राणी आवीचिमरण की अपेक्षा से प्रतिक्षण मर ही रहा है। निर्दय यमराज मुह मे डाले हुओ को निगलता हुआ गोद मे रखे हुओ को कैसे छोडेगा ? अध्रुव प्राणो के लिए यदि ध्रुव धर्म को छोड दू तो मेरे जैसा दूसरा कौन इस पृथ्वी पर मूर्ख होगा ? अविनश्वर आत्मिक सुख के निमित्त यदि नश्वर प्राणो का उत्सर्ग करदू तो चिरकाली के लिये वीरो के समूह मे चक्रवर्ती का पद पा लूंगा। पूज्यवरो ! सोचना चाहिए कि यदि म अपनी आत्मा मे जन्तुमात्र के प्रति मैत्री रखता हू तो कौन मुझ से शत्रुता रखेगा ? यदि मैं सब सत्वो को अभय देता हूँ तो कौन मुझे भयभीत बना सकेगा ? सारे ससार को यदि मैं बन्धु मानता हू तो अकारण ही कौन मेरा विरोध करेगा ?

क्या आपने देखा नही कि परम कारुणिक जिनेन्द्रदेव के पास सिहनी मृगशिशु से स्नेह करती है ? बिल्ली भी चूहे को मारने के लिए नही झपटती।

कर डालना चाहिये। कौन जाने आगामी समय कसा आएगा ? समय अमूल्य धन है। समय ही बड़ा साधन है। समय साधने वाले के सभी कार्य सिद्ध हो जाते है। जब मै दूसरे गाव मे भी प्रभु का पदार्पण सुनकर बहुत बार वहा दर्शन के लिए जाया करता हू तो फिर यहाँ विराजते हुए देवार्य की कैसे सेवा न करू ? मैं ऐसा मदभाग्य नही हूँ कि मौत के डर से आत्मा को प्रभुदर्शन से वंचित रखू। मित्रो ! बुरे भावो मे मैं बहुत बार मर चुका हूँ पर उससे कुछ भी कल्याण नही हुआ। यदि आज मे प्रभु की ही लय मे लीन उनके ही ध्यान मे मग्न और सर्ववासनाओ से मुक्त अर्जुन के मुद्गर प्रहार से मर जाऊ तो इससे बढकर शुभ और क्या होगा ? स्नेहशील बधुओ ! आप लोग कोई खेद न करे यह सुनिश्चित है कि अच्छे काम के अच्छे ही फल होगे।

उसकी ऐसी सकल्प शक्ति को जानकर शुभ हो' ऐसा कहकर सारे मित्रा ने अपना-अपना रास्ता लिया।

विद्युत् की चमक की तरह यह बात नगर भर मे फैल गई। कुछ एक व्यक्ति वहाँ जाते हुए सुदर्शन को देखकर और उसके कार्य पर आक्षेप करते हुए व्यग कसने लगे—

मुह पर हास्य की रेखा दिखाते हुए एक ने कहा—यह महात्मा आज किधर जा रहे है ?

दूसरा—पता नही ? ये भक्त भगवान् के दर्शन व चरण स्पर्श के लिए जा रहे हैं।

जोर से हँसता हुआ तीसरा कहने लगा—झूठी बात है। ऐसा कहो कि यह मत्युदर्शन के लिए भूमिअर्पण के लिए और अर्जुन को हर्षित करने के लिए जा रहा है।

जोर से ताली बजाते हुए फिर दूसरे न कहा—अरे तू तो मूख है। कोई भी दुष्ट भक्त का बाल बाका नही कर सकता। मृत्यु के मुह मे तो तेरे मेरे जैसे पापी ही समा सकते हैं।

फिर तीसरा—अच्छा अच्छा क्षमा करो क्षमा करो मैंने महापुरुषो की आशातना की है।

पास मे खडा कोई चौथा – तब तो यह भक्त नगर के उपद्रव को भी शात कर देंगे।

पहला—नगर का उपद्रव भी शान्त हुआ ही समझो जब ऐसे भक्त जा रहे है ।

दूसरा—अवश्य, अवश्य, वे स्वयं ही स्वर्ग को पवित्र करने के लिए प्रस्थान हो जायेंगे।

ठहाका मार कर हसते हुए सभी—'अवसर का अजान तू रग मे भग कर रहा है ?'

चौथा—ऐसे अवसर तो कभी-कभी ही मिलते है।

पहला—हा, रास्ते मे भीड भी नही है।

दूसरा—अहो ! बिल्कुल जान लिया, जान लिया। एकान्त मे भगवान् से वार्तालाप करने का भी मौका अच्छा मिल जायगा। ज्यादा भीड-भाड मे सूक्ष्म-प्रश्नो का भी समाधान नही हो पाता न ?

सभी बोले—ऐसे अवसरो को तो भक्त ही जान सकते है, दूसरे नही।

पहला—ऐसे भगवद्भक्त अपने शहर मे कितने है ?

तीसरा—ऐसे भक्तश्रेष्ठ तो केवल पाच छह ही है।

दूसरे ने विस्मित होकर कहा—तो बाकी के पाँच कहाँ मर गए ? जो इसके साथ नही जा रहे है ?

तीसरा—तू तो बकवास कह रहा है। मृत्यु कहाँ पाए ! वे तो अर्जुन द्वारा नाम शेष हो चुके है।

दूसरा—हा, हा ! यह भी नामशेषता प्राप्त करना चाहता है।

पहला—क्या आश्चर्य है ? नामशेष ही ससार मे जीवित है। तेरे जैसे अन्य तो जीवित भी मृत के समान है।

दूसरा—तेरे जैसे भी तो ?

चौथा—अच्छा, तो ये महात्मा पधारे और शीघ्र यश शेष हो जाए।

कुछ भद्र प्रकृति के धार्मिक जन सुदर्शन को जाते देख परस्पर कहने लगे—'धन्य है यह वीराग्रणी पुण्यात्मा सुदर्शन, जो मृत्यु भय की परवाह न कर महावीर के दर्शन के निमित्त जा रहा है। धन्य है इसकी माता को, जिसने ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया। इसकी धर्मनिष्ठा प्रशसनीय है, जो आपत्काल मे भी कर्त्तव्य च्युत नही होती।'

कतिपय भद्र पुरुष सहानुभूति दिखाने के लिए उसके साथ मुख्य दरवाजे तक गये और कुछ लोग कौतूहल के वश मृग की तरह उसके पीछे-पीछे, धीरे-धीरे चले। किन्तु सुदर्शन योगीश्वर की भाँति निन्दा और प्रशसा मे समभाव करता हुआ शहर के प्रधान द्वार पर पहुचा। साथ के सारे लोग समुद्र तट के

किनार पर खड़े पुरुषों की भाँति वहीं ठहर गए। कुछ लोग भावी-दृश्य देखने की उत्सुकता से द्वार के ऊपर चढ़ गए। परभवगामी जीव की तरह एकाकी सुदर्शन नगर के बाहर चला। केवल धर्म ही उसका सहायक था। महावीर के सम्मुख जाते हुए सुदर्शन को शान्तरस से सपृक्त वीररस जैसा पिण्डीभूत धर्म जैसा अवतरित साक्षात् धर्म जैसा मूर्त दयाभाव जैसा चलता फिरता गुणरत्न-निधि जैसा और प्रत्यक्ष नियम जैसा दरवाजे पर खड़े लोगों को प्रतीत हुआ।

इधर प्रतिदिन सात व्यक्तियों की हत्या में लगा हुआ क्रोध से व्याकुल करता से भरा हुआ हिंसक अर्जुन जंगल में शिकार की खोज करने वाले व्याध की तरह गुणशील उद्यान के दरवाजे पर कंधे पर मुद्गर धारण किये आने वाले की प्रतीक्षा कर रहा था। निर्भय सुदर्शन को आते देखकर खुश होता हुआ वह विचार करने लगा—अहो मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए पहला ग्रास आ रहा है। मगर अति आश्चर्य की बात है! प्रायः हत्या के रहस्य को न जानने वाले ही मेरे नजदीक आते हैं और अन्धों की तरह मरणान्धकूप में गिर जाते हैं। पर आज तो सब रहस्य को जानने वाला कोई मरणेच्छु व्यक्ति ही सामने आ रहा है। अहो! अक्षयनिधि विधि का कौन पार पा सकता है? पड़ा-पड़ा भी अजगर पेट भर लेता है। केवल मांस भोजन करने वाला सिंह भी प्रतिदिन तृप्ति प्राप्त करता है। विशदवर्णी राजहंसों की भी पूर्णतया पूर्ति मोतियों से होती है। दुनिया जान गई है कि मैं मनुष्यों का संहार करता हूँ फिर भी आश्चर्य है कि नित्य नये सात व्यक्ति मेरे द्वारा यमराज के पास पहुँचते आ रहे हैं। चलो यह मरणासन्न उद्यान के पास आ चुका है। अभी इसे यमलोक में पहुंचा दूं। ऐसा निश्चयकर मुद्गर घुमाता हुआ अधीरों का धैर्य डोलाता हुआ वह दौड़ा।

शस्त्रधारी दानव के समान पृथ्वी पर दौड़ते हुए अर्जुन को देखकर दरवाजे पर स्थित सभी लोग भय से कांप उठे। हाय! हाय! प्रिय सुदर्शन यमराज द्वारा आलिंगित किया जा रहा है। शीघ्र ही इसका जीवन दीर्घमार्ग का आलम्बन लेगा। पापिष्ठ! तू कहीं भी समय नहीं पहचानता। अपनी उद्धत प्रकृति से सभी जगह एक-सा वर्ताव कर रहा है। कैसे-कैसे नररत्नों को तू पुराने शरीर रूप मन्दिर से च्युत कर देता है। सचमुच विवेकहीनों की प्रवृत्ति बिना सोचे विचारे ही होती है। विचारशील व्यक्ति कुछ करते हुये पद-पद पर चिन्तन करते हैं। निपुण व्यक्तियों को मूर्खों के सामने विद्वत्ता या वीरता का प्रदर्शन कदापि नहीं करना चाहिये। गावड़े का निवासी जड़मति व्यक्ति

विद्वानो की विशिष्ट पटुता व विद्याविलक्षणता को क्या जाने ? गुलाब के बगीचे मे घुसकर भी गधा क्या सौरभ का आनन्द उठाएगा ? कदली-उद्यान मे रहता हुआ ऊँट क्या केले खाने की विदग्धता दिखलायेगा ?"

सुदर्शन ने भी मुद्गर घुमाते हुए और साक्षात् यम का अभिनय करते हुए अर्जुन को देखा। वह तत्काल वही खडा हो गया और निर्भय भावना से चिन्तन करने लगा—"आगया है यह क्रोध से परवश, दयनीय दशा वाला, लोगो को सत्रस्त करता हुआ अर्जुन ! लेकिन भयानक क्रोधरूप दानव क्रोध से नही मारा जा सकता। जो विरोध को प्रतिशोध से शमन करना चाहता है वह बन्धन डाल कर अग्नि को शात करने का प्रयत्न करता है। खुजली खुजलाने से शीत नही होती। प्रतिकूलवस्तु को उसके प्रतिकूल स्वभाव से ही अनुकूल बनानी चाहिये, न कि अनुकूल धर्म से। पानी ही अग्नि को शान्त कर सकता है। अग्नि ही शैत्य मे उष्मा भर सकती है। क्षमा ही क्रोध रूप रोग की उत्कृष्ट औषध है।"

"एक नीतिकार ने कहा है—क्षमा ही उत्तम प्रतिशोध है। क्षमा वीर का आभूषण है। इसमे कायरो का अधिकार नही है। इसलिए क्षमा रूप कवच को धारण कर रचनात्मक उपदेश से ही उसके क्रोध को शान्त करना उचित होगा, अभी वचन के उपदेश का असर नही है।" ऐसा विचारकर, सुदर्शन तत्काल हाथ जोडकर भगवान् महावीर प्रभु को नमस्कार कर, विज्ञप्ति करने लगा—"हे त्रिकालदर्शिन् ! भगवन् ! जबतक आपका साक्षात् दर्शन न हो, तब तक इस क्षणभगुर शरीर को वोसराता हू, चारो आहारो का त्याग करता हूँ और समस्त जीवो के साथ मैत्री-भाव धारण करता हूँ, हे त्रिजगत्पति ! आज मेरी परीक्षा का अवसर है। हे कृपासिन्धु ! मुझे ऐसी अमोघशक्ति दो कि मैं जगत् के सम्मुख अपना मस्तक ऊँचा रख सकू और आर्हतमतावलम्बियो का महान् आदर्श उपस्थित कर सकू, साथ ही आपकी सर्वातिशायी महिमा प्रकट कर सकूँ।"

"हे अनन्तशक्तिधर ! छात्रो का परीक्षा मे उत्तीर्ण होना अध्यापको की महत्ता का सूचक है। सेना की विजय मे ही सेनापति की विजय है। पुत्र की श्लाघा पिता को श्लाघ्य बनाती है। हे अमदानन्दमय ! आपकी छत्र-छाया मेरे सिर पर है, अत मे नितान्त निर्भय हू। सारी वासनाओ के निष्कासन से पूर्ण सुखी हू और तेरे चरणों में आत्म-समर्पण कर मैं बहुत आनन्दित हू।

हे धर्य धौरेय ! आपके उपदेशामृत से जो तृप्त हैं उनका ध्यान कौन चलित कर सकता है ? आपके चरणकमल मे रमण करने वालो का चित्त कौन चंचल बना सकता है ?

इस प्रकार अपने मन को विशुद्ध करके और मेरु की तरह अडोल होकर सुदर्शन वही पर समाधिस्थ हो गया। योगीराज की तरह आंखें मूंद कर खडा रह गया।

पाँचवा समुच्छ्वास

महान पुरुषो के चित्त वज्र से भी अधिक कठोर तथा फूल से भी अधिक कोमल होते हैं। ऐसे लोकोत्तर पुरुषो की चित्तवृत्ति को कौन जान सकता है ?

—भवभूति

ससार के प्राणी सात भयो मे से मृत्यु को सर्वाधिक भयकर मानते है। कानो-कान किसी की मृत्यु की बात सुनकर भी लोगो के हृदय कपित हो जाते हैं। यहाँ आकर सारी आशाएँ दिशाओ की भाति शून्य होने लगती हैं, और सारे ही कल्पित मनोरथ भूमिशायी हो जाते है। जगत् को जीतने वालो का भी यहाँ आते पराजय का ढोल बजने लगता है। परन्तु जो मृत्यु से भय नही खाते और काल के सामने भी विकल नहीं होते ऐसे वीराग्रणियो को कहा भय है ? उन नि स्पृहो के पराभव की सभावना ही कहाँ है ? अस्तु, सुदर्शन उस समय कूटस्थनित्य की तरह स्थिरता धारण किये हुए था और कलक-रहित चद्रमा की तरह अमृत वर्षा कर रहा था। उसे देखकर और समीप आकर गर्जता हुआ अर्जुन मन में सोचने लगा—अहो ! मैंने तो ऐसा कोई भी वीरशिरोमणि नही देखा, जो मेरे सामने भी निश्चल ध्यान-मुद्रा धारण कर रहा हो। दौडना, चिल्लाना तो दूर रहा, इसके चेहरे पर चिन्ता की रेखा भी दिखाई नही देती। यह कोई विलक्षण मनुष्य है, पर्वत से स्पर्धा करने वाला इसका धैर्य है। इसकी सहिष्णुता आश्चर्यजनक है। इसकी तल्लीनता प्रशसनीय है और इसकी अलौकिक स्थिति देखने योग्य है। यह कोई मनुष्य है, या काष्ठ ठू ठ है ? यह नर है या देवता ? यह चेतन है या जड ? कुछ भी समझ मे नही आता। दूसरे लोग मेरी भयकर आकृति को दूर से ही देखकर भय-भ्रात हो जाते हैं। मुझे देखकर अपनी शक्ति का गर्व दिखाते हुए, मुझ पर आक्रमण करने के लिए युद्ध तत्परता दिखलाते हैं और कई एक दूर से ही मेरी गर्जना सुनकर यम के महमान बन जाते हैं। पर आज क्या हो गया ? प्रतिदिन होने वाली घटना आज बिल्कुल विपरीत दिशा मे जा रही है ? अरे ! इसके चेहरे पर न क्रोध है, न भय है न

दीनता है ! न दम्भ है ! प्रेम की मूसलधार वर्षा से यह मेरे क्रोध-दावानल को शान्त करने की चेष्टा कर रहा है।

अरे अरे ! हट चल-चल अब तेरी यह अनुरागभक्ति वृथा है। इस अर्जुन ने तेरे जसे सैकड़ों भक्तो को मत्यु के घाट उतार दिया है। इस तरह मन ही मन अनेक कल्पनाए करता हुआ वह पापी तत्काल सुदर्शन के वध के लिए निर्दय हाथों से मुद्गर घुमाने लगा।

हे भव्यो ! उसे कौन चलित कर सकता है क्षुब्ध कर सकता है, या मार सकता है जिसकी रक्षा के लिए धम रूपी महाराज सावधानी के साथ तत्पर हो। धर्म-कल्पवृक्ष की गहरी छाया मे बैठने वाले मनुष्यो के दुख विमुख हो जाते है, सुख समीप आते हैं हव बढता ही जाता है विषाद ठहर नही सकता सम्पदा पग पग पर उसे वरण करती है। विपदा को वहाँ स्थान नही मिलता है। भव्यजनो ! ऐसे निष्कारण करुणावान महारक्षक धम को पाकर भी क्यो दूसरो की शरण चाहते हुए कष्ट-भाग बनते हो ? क्यो न धर्म-महाराज के चरणो मे सर्वस्व समर्पण करके निश्चल बनते हो। वे ही मूढ ससार मे मार जाते है गिराये जाते है छले जाते है मौत पाते हैं जो प्र व धम का आदर न करते हुए भटकते हैं और दृढतापूर्वक उपासना न करते हुए धृष्टता दिखलाते हैं।

खैर मारने को जिसने गदा ऊँची कर रक्खी है ऐसा मदान्ध अजु न धम प्रभाव से या भगवान् के अतिशय से गदा को नीचे करने मे समर्थ नही हुआ—उसके हाथ ऊपर ही ऊपर स्तब्ध हो रहे।

विज्ञजनो ! देखिए यह अहिंसा और हिंसा का निर्द्वन्द्व सघर्ष ! एक ओर जगत् को ग्रसित करने के लिए उत्सुक क्रोध से लाल दयारहित होठो को डँसती हुई कदाग्रहवती साक्षात् हिंसाराक्षसी और दूसरी ओर सुदर्शन की तीन लोक मे मैत्री सूचित करती हुई प्रेममयी विकस्वर आखो से महान आकर्षण बिखेरने वाली जगत् विजयिनी परम पवित्र साकार अहिंसादेवी। इधर उछलती हुई हिंसा राक्षसी दया देवी पर अपना स्वतन्त्र अधिकार जमाना चाहती है उधर करुणामयी दया-देवी क्रूर-हिंसा को समूल नष्ट करना चाहती है।

इन दोनो मे कौन विजयिनी बनेगी और कौन पराभूत होगी इस प्रकार दुर्ग पर खड़े लोग सदेह कर रहे थे। या पुष्करावर्त मेघ के सामने दावानल कहाँ तक अपना बल दिखलाए ? देव-योग्य सुधा के आगे कब तक विष का प्रभाव टिक सके ? अहिंसा-देवी के सामने अपना पराक्रम टिकता न देखकर निर्दयता-दानवी किंकर्तव्य विमूढा हो गई।

अपनी पूरी शारीरिक और मानसिक शक्ति से गदा-प्रहार करने की चेष्टा करते हुए भी अर्जुन की गदा तार-मात्र भी नीचे नही आ सकी। किन्तु व्यायाम करने वाले की ज्यो ऊँची उठाई गई वह गदा उसके हाथो मे ऊपर ही बनी रही। अत्यन्त विस्मित व खिन्न होता हुआ अर्जुन तब मन मे सोचने लगा- "यह क्या बात है? यह क्या घटना घटी है? क्यो मेरा प्रयत्न व्यर्थ हो रहा है? यह पहला ही अवसर है कि मेरा प्रयास विपरीत हो रहा है। हाय! हाय! हरदम मेरी सहायता करने वाला यह मुद्गर क्यो आज मेरे साथ शत्रु का-सा व्यवहार कर रहा है? क्या यह पाच मास तेरह दिनो मे ११४१ व्यक्तियो को मारता-मारता उद्विग्न हो गया? या इसकी रक्त-पिपासा शान्त हो गई? अथवा यह मुद्गर दयार्द्र हृदय हो गया? अरे मुद्गर! लम्बे समय तक मेरे साथ मैत्री रखता हुआ आज क्यो विपरीत आचरण कर रहा है? मेरा तुझ पर पूर्ण विश्वास है। तू ही अगर विश्वासघात करेगा तो मैं किसकी शरण लूँगा? महान व्यक्ति आरब्ध कार्य मे कदापि विश्राम नही चाहते। अरे! मैं समझ गया, प्राय डरपोक को ही सब डराते है। निर्भय से सब डरते हैं। अरे! 'देवो दुर्बलघातक' यह किंवदती भी आज पूरी तरह चरितार्थ हो चुकी।"

"मुद्गर! तू भी निभय वीराग्रणी पुरुषसिंह को सामने देख चचलता छोड कर स्थिरता धारण कर रहा है? क्यो नही प्रतिदिन किया जाने वाला काय सम्पन्न करता है?"—क्रोध और अभिमान-मिश्रित अनेक विकल्प करते अर्जुन ने बार-बार पूरी ताकत से मुद्गर को नीचे करने का प्रयत्न किया, किन्तु दरिद्र की कल्पना की ज्यो उसकी सारी चेष्टाएँ निष्फल हो गई।

इधर वैराग्य सरोवर मे डुबकी लगाता हुआ, महावीर देव के चरणकमलो मे भ्रमर के समान रमण करने वाला, मृत्यु से भी न डरने वाला योगीराज की ज्यों दृढता धारण करता सुदर्शन क्षणानन्तर सोचने लगा—'ओह! क्यो न अभी तक आततायी अर्जुन ने मेरे वध का पाप सचित किया? हिंसक व्यक्ति ने इतनी देरी कैसे की? क्योकि हिंसक जन सहसा-प्रवृत्ति वाले होते हैं।' ऐसा चिंतन करते हुए सुदर्शन ने कृपा-पवित्र आखें खोली और गदा उठाए हुए अर्जुन को देखा। अहिंसा-प्रतिष्ठित सेठ का दृष्टिपात होते ही हिंसा पक्षग्राही यक्ष कापने लगा और उसी क्षण अर्जुन के शरीर को छोडकर पलायन कर गया। सूर्य का उदय होने पर कैसे अंधकार अपना अस्तित्व टिकाए रख सकता है? मूसलधार मेघ के बरसते कहाँ तक उष्णता ठहर सकती है? या पक्षिराज गरुड के आने पर कहाँ तक साप फटाटोप दिखला सकता है? मुँह

छिपाकर हिंसा राक्षसी भाग गई। अहिंसा देवी के विजय घोष से सब दिशाएं गूंज उठीं।

यक्षावेश के दूर होते ही अर्जुन मूर्छा रोगी की भांति तत्काल जमीन पर पड़ा। पर-पीड़ा देने वालों का निश्चित ही पतन होता है मानो यही आवेदन करता हुआ रक्त-रंजित मुद्गर भी एक तरफ गिर गया। अथवा क्षमा (पृथ्वी) ही मुझे क्षमा देगी ऐसा विचार कर उसने क्षमा की शरण स्वीकार की।

उपसर्ग दूर होने पर जिसकी प्रतिज्ञापूर्ण हो चुकी ऐसा सुदर्शन अर्जुन को यक्षावेश रहित मूलस्वभाव मे आया जानकर बन्धुत्व भरी वाणी से कहने लगा— हे भद्र ! भूमि पर लोटता हुआ क्या विचार कर रहा है ? उठ देख तेरे सामने तेरा स्वजन खड़ा है। अर्जुन ! क्रोध को छोड़। क्षमा का आदर कर। भाई ! तूने यक्षावेश के अधीन होकर बहुत दुष्कर्म किया है और काजल के समान काला अपयश संचित किया है। सुदर्शन के ऐसे वचनामृत से सिक्त और कुछ सावचेत होता हुआ अर्जुन सोचने लगा—मैं कौन हूं ? मै कहां का हूं ? मैं कहां आ गया हूं ? मेरा काम क्या है ? यहां क्यो पड़ा हुआ हूं ? धीरे धीरे मदिरा का नशा उतरने पर जैसे मद्यप मनुष्य सोचता है, वैसे अपना नाम कार्यादि स्मृति मे लाने लगा। छ पुरुषों तथा बन्धुमती की हत्या और प्रतिदिन किया जाने वाला सात व्यक्तियो का वध उसे याद आया। वह सहम-सा गया।

निश्चय ही यह कोई नर-श्रेष्ठ है जो मधु के समान मधुर वाणी से मुझे पुकार रहा है। इस महामानव की कृपा से ही मेरे शरीर से यक्षावेश दूर हुआ है। इस मनस्वी को प्रणाम करूं इसका मंगलकारी नामादि पूछूं और यहां आने का कारण भी जानूं ! इस प्रकार विचार कर अगड़ाई लेता उठा और श्रेष्ठी को प्रणाम करता हुआ सरलता से हाथ जोड़ कर पूछने लगा— आप कहां के रहने वाले है ? आपके नाम को किन शुभाक्षरो ने पवित्र किया है ? यहां क्यो पधारे है ? आगे कहां जा रहे हैं ?

मृदुतापूर्ण वाणी से सेठ ने प्रत्युत्तर दिया—'भाई जहां तेरा निवास है वही मेरा है। लोग मुझ सुदर्शन के नाम से पुकारते है। भगवान् के दर्शनार्थ मैं जा रहा हूं। रास्ते मे तेरी हिंसावृत्ति को जानकर मैं प्रभु के ध्यान मे लीन हो गया। उनकी अवर्णनीय अहिंसा से सारे अरिष्ट नष्ट हो गए और तू भी स्वाभाविक दशा मे आ गया।

सुदर्शन की सरलता भरी वाणी सुनकर माली ने सोचा—ओह् भव्य भक्ति-रक्त भगवद्-भक्तो मे भी ऐसी लोकोत्तर शक्ति विद्यमान है कि इनके सामने हिंसा-तत्पर महाक्रूरकर्मा यक्ष भी भय से भाग गया ! फिर त्रिलोक-पूजित अतिशयधारी भगवान का तो कहना ही क्या ? अफसोस ! इतना समय मैंने यक्ष की सेवा मे गँवाया। यदि मैं इतना समय वर्द्धमान प्रभु की सेवा मे लगाता, तो न जाने कितनी सफलता प्राप्त कर लेता। खैर, अब इन बातो से क्या लाभ ? वर्तमान का ही अनुगमन करना चाहिए'—ऐसा विचार कर कष्ट भरी वाणी से सुदर्शन से कहने लगा—'हे श्रेष्ठिवर ! मुझ पर अनुग्रह करके बताइए कि वे पतितोद्धारक महामहिम महात्मा महावीर भगवान कौन है, जिनके दर्शन की इच्छा के कारण आप मृत्यु-आतक से भी शकित नही हुए और मेरे जैसे पशुवृत्ति वाले को भी मानवता दिखला सके ? मैं भी उनका नयनामृत दर्शन चाहता हूँ।'

'सुहृद्वर ! मद बुद्धि वाला मैं अपने निन्दनीय आचरणों को कैसे व्यक्त करूँ। हाय ! हाय ! मुद्गरपाणियक्ष के आवेश से ११४१ व्यक्तियो को मार कर मैंने घन-घटा से भी काला, लोहे के घन से भी अधिक निकाचित, वज्र से भी कठोर, महारण्य से भी निबिड, विष से भी कटुक और नारक द्वारा भी दुर्भोग्य पाप का सचय किया है। हाय ! हाय ! नगरवासी मुझ पर क्रोध करते हैं, द्रोह करते हैं, मेरा नाम सुनकर ही भयभीत होते है, दुराशीष देते हुए मेरी भर्त्सना कर रहे है, और रोष-रक्त नेत्रो से मुझे देखते हैं। धिक्कार है, मुझे धिक्कार है। ओह ! मुझ महापापी ने तनिक भी नही सोचा कि छ नराधमो के अपराध से नागरिको ,का क्या अपराध है ? हाय, न जाने कितने पूज्य वृद्धजनो, भविष्योज्ज्वल कितने दुधमुहे बच्चो, कार्य-भार वहन करने वाले कितने युवको और मा की तरह पूज्य कितनी अबलाओ को क्रोध के वश होकर मैंने यमराज की भेंट चढा दिया। अथवा रागद्वेष-युक्त देवो की सेवा से सेवकगण भी क्यो न राग-रोषाकुल हो ? कारण के अनुरूप ही कार्य होता है, इसमे कोई विचित्रता नही। वीतराग की सेवा करने वाले सर्वत्र समदर्शी, निमलाचारी आप समस्त नागरिको द्वारा बधु की तरह देखे जाते हैं, और प्रेमपूर्ण दृष्टि से सत्कृत किये जाते है। इसमे आश्चर्य ही क्या है ? आपने करुणामय उपदेशामृत का सदा पान किया है, कायरता को हटाने वाली, वीरता को बढाने वाली, प्रभु की मुद्रा को ही देखा है और सर्वत्र समता से अनुप्राणित निर्वैरशिक्षा को ही सुना है।

अस्तु, हे परोपकारपरायण ! मुझे भी वीर भगवान् के पास ले चलिए और अधर्मी का उद्धार करने वाली उनकी मुद्रा मुझे भी दिखलाइए, उनका

उपदेशामृत मुझे भी पिलाइए। मुणीशेखर! मैं नहीं मानता कि आप भगवान् के दर्शन निमित्त इधर आए। मेरा विश्वास है कि मुझे प्रतिबोध देने के लिए ही आप इधर आए हैं।

हे गुणज्ञ। सुरासुरों के आवागमन से संकुल साधु-समूह के विराजने से देदीप्यमान अनेक प्रकार की कठोर तपस्या करने वाले तपस्वियों से आलोकित परम मुदित प्रलम्बित बाहु ध्यान-मुद्रा में स्थित मुनियों से विशुद्ध वातावरण वाला त्रिलोकी पति द्वारा पवित्रित उस अद्भुत स्थल में तुम्हारे पीछे ही मैं प्रवेश पा सकूंगा अन्यथा मेरे जैसे हत्यारे को कौन वहाँ घुसने देगा? आपके सहयोग से मेरा भी कल्याण हो जाएगा। नीचे जमीन में पड़ा हुआ भी पानी रस्सी वाले घड़े के सहारे ऊंची गति पाता है। पावन गुरु चरण-कमल से स्पृष्ट धूल भी मनुष्यों के मस्तक में स्थान पाती है अतः अब आप अग्रगामी बनें और मैं आपका अनुगामी बनता हूँ।

उसकी आर्य महावीर के दर्शन की अत्यधिक अभिलाषा देखकर अमृत का सिंचन करता और फूलों को बरसाता हुआ मानो सुदर्शन बोला—हे भद्र! विलम्ब का क्या काम है? वहाँ जाते हुए तुम्हें कौन रोक सकता है? परोपकार-परायण भगवान् महावीर का द्वार दिन रात सब प्राणियों के लिए खुला रहता है। वहाँ जाने के लिए धनी निर्धन राजा रंक ज्ञानी-अज्ञानी धार्मिक-अधार्मिक कुलीन और अकुलीन देवता और तिर्यंच सभी समान अधिकारी है। भाई! अपने किये हुए बुरे कर्मों को याद करके क्यों खेद करता है? वहाँ दुःसाध्य रोगों का भी प्रतीकार सम्भव है। हे देवानुप्रिय! भूलें तो प्राणी करता ही है, इसमें कोई नई बात नहीं पर श्रेष्ठ तो यह है कि दोष दोष रूप में ज्ञात हो जाए और मन से उनका निराकरण करने की चेष्टा की जाए। अच्छा तो आओ अपन दोनों वहाँ चलें।

इस प्रकार वे परस्पर वार्तालाप करते हुए दोनों उस दिशा में चल पड़े।

छट्ठा समुच्छ्वास

महात्माओं का प्रभाव अचिन्तनीय होता है ।

—सिद्धसेन दिवाकर

"भगवन् ! अनतचतुष्टय मे आप अनतबली कहे जाते हैं। आपका गौरव वर्णनातीत है । आपके ध्यान मे एकतान हुए योगीजन न भूख से पीडित होते हैं, न तृषा से व्याकुल ! न शीत से कम्पित होते हैं और न ताप से त्रस्त। वे घोर तपस्या आचरते हुए परमानन्द का सुखास्वाद करते हैं । हे त्रिजगत्-पति ! *आप के साथ तन्मयता साधने वाले प्राणी शीघ्र ही आपकी दुष्प्राप्य* समकक्षता पा जाते है । अन्य देवो से विलक्षण आपका यह उत्कृष्ट सौजन्य है। हे सर्वदर्शिन् ! आज हमारे कलेजे का टुकडा, अत्यन्त प्यारा पुत्र सुदर्शन आपके दर्शन के निमित्त गया है । हे परमेष्ठिन् । घातक अर्जुन के डर से डरे हुए हमने वहा जाने के लिए उसे बहुत मना किया, परन्तु वह तो आप पर पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ, हमारे कहने पर मृत्यु की भी परवाह न कर, नि शक आपकी ओर रवाना हो गया। हे देव ! क्या हम दोनो उसका मुख-कमल फिर देख पायेंगे ? क्या उसका विनय-विनम्र मस्तक हमारे चरणो का स्पर्श करेगा ? क्या हम दोनो का दाहिना हाथ उसके स्निग्ध-केश-विलसित मस्तक पर फिर टिकेगा ? और क्या सुधावर्षिणी जल-सी सरल उसके मुख की वाणी हम फिर से सुनेंगे ? आपके चरणो की कृपा से पुत्र का सर्वथा मगल ही होगा, फिर भी भगवन् ! प्रेम-पूर्ण हृदय स्थिर नही हो पाता ।"—इस तरह भक्ति और मोह से मिश्रित नाना कल्पनाएँ करते हुए, सुदर्शन की पुन-पुन स्मृति करके आसुओ से तालाब-सा भरते हुए, प्रतिक्षण आगन्तुक व्यक्तियों से उसका वृतान्त उत्सुकता से पूछते हुए, और नाना विचार-धाराओ से क्षण मे शोक और क्षण मे हर्ष प्रकट करते हुए सुदर्शन के माता-पिता घर मे बेचैनी से समय व्यतीत करने लगे ।

उसी क्षण महानदकारी सदेश से अभिनन्दित परम-प्रसन्न हृदय वाले कुछ

नगरवासी लोगो के मुंह से उठी मगलमयी ऊची ध्वनि माता पिता के कानो मे पडी— शुभ है शुभ है ! मगल है मगल है ! कल्याण है कल्याण है। भद्र है भद्र है ! हट गया टल गया नगर का उपद्रव ! नगर पर छाई हुई विपत्ति रूपी घन घटा वीर-दर्शन एव भक्ति रूप प्रतिकूल पवन से प्रेरित होकर छिन भिन्न हो गई। जिस उपसर्ग को चतुरगिनी सेना से सम्पन्न श्रीमान् श्रेणिक महाराज भी शान्त नही कर सके उसे प्रभु के एक दर्शनोत्सुक वीर भक्त ने बिना शस्त्र बिना दूसरे के सहारे और बिना सघर्ष ही उपशान्त कर दिया। वस्तुत उसने जगत् के सामने अहिंसा का साकार चित्र प्रस्तुत कर दिया। अनेक जनो द्वारा अत्यन्त हर्ष के साथ जोर-जोर से बार-बार इस प्रकार कहे हुए शब्दो को सुनकर मानो कानो मे आश्चर्य पैदा हो गया हो एसे सुदर्शन के माता पिता— यह क्या ? कहा से कसी यह ध्वनि सुनाई पड रही है ? सुदशन का नाम बार बार कानो मे सुनाई दे रहा है। यो कहते हुए घर से एक-दम बाहर आकर पूछने लगे।

हे भद्र महोदयो ! आज नगर मे क्या अद्भुत घटना घटी है जिससे लोगो मे इतना कोलाहल सुनाई दे रहा है ?

किसी आगन्तुक ने कहा— क्या अभी तक आप को पता ही नही ? आपके कुल-सूर्य ने अद्भुत काय कर दिखाया है।

पिता बोले—नही नही हे भद्र ! शीघ्र कर्णामृत पिलाओ !

आगन्तुक बोला—ओह ! जो असाध्य प्रतीत हो रहा था उसे भी आपके पुत्र न सुख साध्य बना दिया।

हष परवश पिता-माता ने कहा—विस्तार से कहो भाई ! जिससे हम भी जान सक।

इतने मे दुर्ग पर रहे हुए अनेक लोग दौडते हुए सुदर्शन के घर मे घुसे। सुदर्शन की विजय हो सुदशन की विजय हो ऐसे बार बार नारे लगा कर पिता के वस्त्र खीच कर बधाई मागने लगे और प्रमोद भरी वाणी से कहने लगे— सुन लिया आपने पुत्र रत्न का अलौकिक काय ? क्या आप ने आज की घटना जान ली ?

अत्यन्त प्रसन्न हो कर माता पिता बोले—नही पूरी नही सुनी।

आगन्तुक जन—तो अथ से पूव वतान्त ध्यान-पूर्वक सुनिये।

माता-पिता उत्सुक होकर—सुनाओ विस्तार से सारी घटना शीघ्र सुनाओ।

पडौसी भी उत्सुकता से सुदर्शन के भवन में एकत्र हो गए और घटित नूतन वृत्तान्त सुनने को सभी ने मौन धारण किया।

उन वृत्तान्त ज्ञाताओं में से एक वाक्पटु बोला—भगवान् के दर्शन को जाते हुए सुदर्शन के साथ हम लोग भी कौतुक देखने के लिए नगर-प्राकार तक गए।

पिता—अच्छा ! हां, आगे कहिये।

हम लोग वहीं ठहर गये। आपका वीराग्रणी पुत्र आगे चला।

बीच में ही माता ने पूछा—अरे भाइयो ! उस वक्त मेरे बेटे के मुँह पर कोई भय का चिन्ह तो नहीं था ?

वक्ता—क्या पूछती हो ? कायरों को वहां जाने का कहां साहस ? वह तो यहीं पड़े-मरते हैं।

माता—ठीक-ठीक, आगे बताइए।

वक्ता—उसे निःशंक आते देख कर वह पापी अर्जुन मुद्गर उठाकर सामने दौड़ा।

रोमांचित होती हुई माता ने पूछा—तब मेरे पुत्र ने क्या किया ?

वक्ता—उसी समय उसने भगवान् का ध्यान शुरू कर दिया।

पास में बैठे हुए सभी—ओह, ऐसे समय भगवान् का ध्यान ? धन्य है, उस नरपुंगव को, धन्य है उसकी माता को और सबसे अधिक धन्य है उसके धैर्य को।

गद्गद् बनती माता ने कहा—फिर क्या हुआ ? क्या हुआ ?

वक्ता—भगवान् के प्रभाव से वह मुद्गर को नीचा ही नहीं कर सका।

माता—ऐसा ?

पास में बैठे सभी—धन्य है ! भगवान् का प्रभाव ? इसीलिये लोग प्रतिदिन सभक्ति आराधना करते है।

पिता—उसके बाद क्या घटना हुई ?

वक्ता—मुद्गर सहित वह जमीन पर गिर पड़ा।

माता—वह जमीन पर गिर पड़ा ? मुझे नहीं मालूम था कि मेरे पुत्र में ऐसी अवर्णनीय शक्ति विद्यमान है। अच्छा फिर क्या हुआ ?

वक्ता—यह तो नहीं मालूम कि उन दोनों में क्या वार्तालाप हुआ, मगर अर्जुन को साथ लिये, आपका पुत्र भगवान् की तरफ रवाना हो गया। यह

देखकर ही हम सब अत्यन्त हर्षित हुए और इस वृत्तान्त को प्रकट करने के लिए तत्काल नगर मे आये।

इस प्रकार पुत्र की कुशल-वार्ता सुनकर माता पिता परम आनन्दित हुए। धन्यवाद देकर उन लोगो को विदा किया। भगवान् व पुत्र को साक्षात् करने की अभिलाषा से उत्तम धार्मिक रथ तैयार करने की आज्ञा दी। मेघ-गर्जना की भांति यह बात सारे शहर मे फैल गई। सारे विज्ञजनो के मन रूप-चौराहे पर सुदर्शन की कीर्ति रूप नर्तकी नाचने लगी। राजा ने भी नगर के निरापद होने का वृत्तान्त जाना। तभी शहर मे यह उद्घोषणा करवाई कि अब से किसी भी दिशा मे लोग इच्छानुसार जा सकते है अब अर्जुन का कोई भय नही रहा।

इधर सुदर्शन तीर्थनाथ के विविध और यथार्थ गुणग्राम से अर्जुन को तृप्त करता हुआ महापुरुषो के लोकोत्तर चरित्रो का वर्णन सुनाता हुआ और क्षमाशूरो की क्षमाशीलता को बताता हुआ भगवान् के समीप जा पहुंचा।

उदयाचल पर स्थित सूर्य-मण्डल के समान पादपीठ सहित सिंहासन पर विराजमान शोकरहित व्यक्तियो के द्वारा यह आश्चर्यणीय है मानो ऐसा आवेदन करती हुई सदा प्रोत्फुल्ल अशोक वृक्ष की छाया मे सुशोभित तीनो लोको मे ऐसा पारमैश्वर्य अन्यत्र कही नही है ऐसा प्रगट करते तीन छत्रो से गौरव युक्त यहाँ किंचित भी अज्ञान अन्धकार का प्रसार नही है ऐसा जताते हुए विभाजाल से भासुर भामण्डल से चतुर्दिक् देदीप्यमान मानो कर्म-रूपी रज को हटा रहे हो ऐसे चमकते हुए चचल चामरो से वीज्यमान मुखारविन्द वाले आन्तरमल के साथ बाह्यमल से रहित अस्नानव्रत वाले भी स्नातानुलिप्त की भांति कमनीय कान्ति से युक्त प्रखर तेज होते हुए भी किसी को ताप न देने वाले चन्द्र की तरह शीतल होते हुए भी कलकरहित शैलेशी अवस्था के समीप जाते हुए भी जड़तारहित त्रिलोकविभुता प्राप्त होने पर भी अपरिग्रही पद्मा—लक्ष्मी का आसन छोडकर भी पद्मासन से अवस्थित भस्म या अक्षमाला आदि न रखते हुए भी परमयोगीराज समस्त विश्व-नाटक को करामलकवत् देखते हुए भी अविस्मयापन्न शान्तिमय ज्ञानमय तेजोमय प्रश्न करते हुए गौतमादि गणधरो द्वारा पर्युपासित कल्पनाओं द्वारा अकल्पनीय वर्णनो से अवर्णनीय वचना से अनिर्वचनीय साक्षात्कार द्वारा ही मननीय और दूसरो से अनुपमेय असाधारण तीर्थंकर महावीर को सुदर्शन ने देखा।

स्याद्वादवादी जिनेश्वर का दर्शन होते ही सुदर्शन और अर्जुन का शरीर

स्वामी भगवान् महावीर ने कहा— देवानुप्रिय अर्जुन ! धैर्य रख विश्वास कर मैं तुझे शान्ति का पथ बतलाऊंगा।

कुसंस्कारों के अधीन आत्मा से प्रायः ऐसे अनार्य कार्य हो ही जाते हैं उन्हें छेदने के अनेक उपाय भी चिरकाल से विद्यमान हैं। बोल क्या जानना चाहता है ?

इतने में अनेक विस्मितमानस प्रसन्नमुख एक एक से आगे बढ़ते हुए नागरिकों से भगवान् का प्रवचन स्थल भर गया। उनके सामने हाथ जोड़कर बालक की तरह सरलता से अर्जुन सविनय पूछने लगा—

भगवन् ! दुःखों के कारण क्या हैं ? उन कारणों का प्रादुर्भाव कहाँ से है ? और उनका सम्पूर्ण नाश कैसे होता है ? हे त्रिकालज्ञ ! आत्मा क्यों पाप का उपचय करती है ? यहाँ कैसी वृत्ति सहायता करती है और उन पापों से छुटकारा कैसे होता है ? यही मैं जानना चाहता हूं कृपालु ! कृपा कीजिए।

अल्पाक्षर वाला भी बहुत सारगर्भित बाह्य वचनवर्गणाजन्य होता हुआ भी हृदयस्पर्शी विविध भावभंगीयुक्त होता हुआ भी संशय रहित जल की तरह कोमल होता हुआ भी मिथ्यात्वरूपी विशाल पर्वत का भेदन करने में समर्थ तात्पर्य से विलक्षण होता हुआ भी कारकादिलक्षण-युक्त साधारण जनवेद्य होता हुआ भी गूढ रहस्य वाला सरस सुबोध और सुमधुरवाणी से भगवान् ने उत्तर फरमाया— 'वास्तव में देखा जाय तो यह संसार दुःखों से परिपूर्ण है। इसमें जन्म जरा मरण आदि अनेक कष्ट स्पष्ट हैं। भौतिक सुख परिणाम में विरस होने के कारण सुखाभास मात्र हैं। प्रतिक्षण संसारी जीव दुःख-दावाग्नि से जल रहे हैं। नाना प्रकार की आधि-व्याधिपूर्ण कष्ट-परम्परा सह रहे हैं।

दुःख का मुख्य कारण तृष्णा है। निदानभेद से तृष्णा भी नाना प्रकार की बतलाई गई है। जैसे अनेक लोग धन की कामना करते हैं कोई काम भोग के अभिलाषी हैं कोई पुत्रादि परिवार चाहते हैं, कोई ऐश्वर्य चाहते हैं कुछ लोग यश के भूखे हैं कुछ सम्मान की खोज में रहते हैं और कोई स्वास्थ्य के प्रार्थी हैं। अधिक क्या कहूं नाना प्रकार की वस्तुओं की लालसा के कारण तृष्णा भी नाना प्रकार से लोगों को सताती है घुमाती है, खिन्न करती है पीड़ा देती है चिन्ता करवाती है और मारती है। यह सर्वभक्षी तृष्णा राक्षसी कहीं भी तृप्त नहीं होती। लाभ होने पर फिर और लाभ की इच्छा से यह बढ़ती है ज्ञानवानों को भी अज्ञान के गड्ढे में गिराती है विरागियों को भी भव रंगमंच पर नचाती है। अत्रस्तों को त्रस्त बनाती है, अविनष्टों को नष्ट एवं दृढव्रतियों को व्रतभ्रष्ट कर देती है और शुभ संकल्पों से च्युत करती हुई धैर्यधुरन्धरों को

ध्वस्त कर देती है। जगत् मे जितने अनर्थ होते है वे प्राय सभी तृष्णा के परिणाम हैं। महापुरुषो के प्राणो की आहुति लेने वाले जितने महासग्राम होते है वे भी प्राय सभी तृष्णा की तुष्टि के लिए ही। न्यायविरुद्ध जितने ही विवाद उठते हैं, वे भी अपने मनोरथ की पूर्ति के लिए ही। धर्म के नाम पर भी जितने उपद्रव बार-बार होते है वहाँ भी स्वार्थान्धता कारणभूत हैं। अस्तु तृष्णा ही दुख की जड है। तृष्णा-रूपी मृगी जिनके चित्त रूपी पहाड को छोड कर भाग निकली उन्हे सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। उदासीन वृत्ति से, सुख से रहने वालो के लिए पग-पग पर निधान है। उन माध्यस्थ दृष्टि वालो के लिए सवत्र ब्रह्मसाक्षात्कार है। वे मान अपमान मे, हर्ष-शोक मे, सुख-दुख मे और जीवन-मरण मे समता भाव रखते है। अनासक्त भाव मे रमण करने वाले वे पुरुष जीते हुए भी यही किंचित् सिद्धि-सुख का अनुभव करते हैं। तृष्णा की उत्पत्ति तो पूर्वजनित कर्म सस्कार से होती है। सम्यग्ज्ञान मे ही तृष्णा का समूल नाश होता है। जैसे-जैसे तृष्णा बढ़ेगी वैसे-वैसे प्राणी के पाप की भी अवश्य वृद्धि होगी। पाप बढने से आठ मिट्टी के लेप वाली तुम्बी की तरह प्राणी नीचे-नीचे जाता है, आस्रव वहाँ सहायक बनता है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमनशील आत्मा को भव रूप गड्ढे मे गिरा देता है। पुण्य-पाप-जनित सुख-दुख सदा अनुभव करता प्राणी कुभकार के चाक की ज्यो चौरासी लाख जीव-योनियो मे चक्कर खाता रहता है। जब सवर द्वारा आने वाले कर्मों को रोक कर, बाँधे हुए कर्मों को निर्जरा से जर्जरीभूत बना कर समस्त पुण्य-पापमय कर्मो का निरन्वय नाश करता है, तब क्षण भर मे अग्निशिखा की भाति या एरण्डबीज की तरह स्वभाव से ऊर्ध्व-गमन करके, बन्धनो से मुक्त होकर तथा सब दुखो का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है। मुक्तदशा मे आत्मा अजर, अमर, अक्षय, अव्याबाध आध्यात्मिक सुख को सादि अनन्त रूप से प्राप्त करता है और लोक के ऊर्ध्वभाग मे स्थित शाश्वत सिद्ध हो जाता है।

o———o

देखकर ही हम सब अत्यन्त हर्षित हुए और इस वृत्तान्त को प्रकट करने के लिए तत्काल नगर मे आये ।

इस प्रकार पुत्र की कुशल-वार्ता सुनकर माता पिता परम आनन्दित हुए। धन्यवाद देकर उन लोगो को विदा किया । भगवान् व पुत्र को साक्षात् करने की अभिलाषा स उत्तम धार्मिक रथ तैयार करने की आज्ञा दी । मेघ-गर्जना की भाति यह बात सारे शहर मे फल गई । सारे विज्ञजनो के मन रूप-चौराह पर सुदर्शन की कीर्ति रूप नर्तकी नाचने लगी । राजा ने भी नगर के निरापद होन का वृत्तान्त जाना । तभी शहर मे यह उद्घोषणा करवाई कि अब से किसी भी दिशा मे लोग इच्छानुसार जा सकते है अब अर्जुन का कोई भय नही रहा ।

इधर सुदर्शन तीर्थनाथ के विविध और यथार्थ गुणग्राम से अर्जुन को तृप्त करता हुआ महापुरुषो क लोकोत्तर चरित्रो का वर्णन सुनाता हुआ और क्षमाशूरो की क्षमाशीलता को बताता हुआ भगवान् के समीप जा पहुँचा ।

उदयाचल पर स्थित सूर्य मण्डल के समान पादपीठ सहित सिंहासन पर विराजमान शोकरहित व्यक्तियो के द्वारा यह आश्चर्यणीय है मानो ऐसा आवेदन करती हुई सदा प्रोत्फुल्ल अशोक वृक्ष की छाया मे सुशोभित तीनो लोको मे ऐसा पारमैश्वय अन्यत्र कही नही है ऐसा प्रगट करते तीन छत्रो से गौरव युक्त यहा किंचित भी अज्ञान अन्धकार का प्रसार नही है ऐसा जताते हुए विभाजाल से भासुर भामण्डल से चतुर्दिक देदीप्यमान मानो कर्म रूपी रज को हटा रहे हो ऐसे चमकते हुए धवल चामरो से धीयमान मुखारविन्द वाले आन्तरमल के साथ बाह्यमल से रहित अस्नानव्रत वाले भी स्नातानुलिप्त की भाँति कमनीय कान्ति से युक्त प्रखर तेज होते हुए भी किसी को ताप न देने वाले चन्द्र की तरह शीतल होते हुए भी कलकरहित शलेशी अवस्था के समीप जाते हुए भी जडतारहित त्रिलोकविभुता प्राप्त होने पर भी अपरिग्रही पद्मा—लक्ष्मी का आसन छोडकर भी पद्मासन से अवस्थित भस्म या अक्षमाला आदि न रखते हुए भी परमयोगीराज समस्त विश्व नाटक को करामलकवत् देखते हुए भी अविस्मयापन्न शान्तिमय ज्ञानमय तेजोमय प्रश्न करते हुए गौतमादि गणधरो द्वारा पर्यु पासित कल्पनाओ द्वारा अकल्पनीय वर्णना से अवर्णनीय वचनो से अनिर्वचनीय साक्षात्कार द्वारा ही मननीय और दूसरो से अनुपमेय असाधारण तीर्थकर महावीर को सुदर्शन ने देखा ।

स्याद्वादवादी जिनेश्वर का दर्शन होते ही सुदर्शन और अर्जुन का शरीर

रोमांचित हो गया। सहज आनन्द का समुद्र उछाल खाने लगा। उनके हृदय कमल प्रफुल्लित हो गये। मन, वचन, काया के योग सद्भावना से भावित हो गये। सारे वैमनस्य विस्मृत हो गये। चारों तरफ विशुद्ध वैराग्य की स्थिति प्रस्फुरित होने लगी। समस्त मानसिक व्यथाएँ मन्द हो चली और उन्हें सारा ही संसार प्रभु-मय दिखाई दिया। उसी क्षण सुदर्शन ने पाच अभिगमन करके यथास्थान जाकर, तीन बार विधिवत् प्रदक्षिणा देकर, सविनय नमस्कार कर, 'कल्याण मंगल' आदि शब्दों द्वारा स्तुति कर, सुख प्रश्न पूछ कर और भक्ति-पूर्वक हाथ जोड़कर इस प्रकार स्तुति की—"हे नाथ! चतुर्गति वाले चराचर विश्व में चक्कर काटने वाले प्राणियों के लिए आप ही शरण है, अनाथों के योग क्षेमकर्त्ता नाथ आप ही हैं। अधमोद्धारक का बिरुद आप ही वहन करते हैं। हे करुणाकर! आपकी शरण से दुर्जन सज्जन, पापिष्ठ धार्मिक और अज्ञानी ज्ञानी बन जाते हैं। मिथ्यात्वी सम्यग्दृष्टि तथा नास्तिक आस्तिकता पा जाते हैं। हे त्रिकालज्ञ! हम जो शुभाशुभ आचरण करते हैं, आपसे किंचित् भी छुपा नहीं है। हमारे मन में उत्पन्न होने वाले संकल्प विकल्प आप में स्फटिक की भांति प्रतिभासित होते हैं। हमारे इन्द्रिय-समूह का उत्पथगमन आपसे अज्ञात नहीं है। प्रभो! ऐसा कोई मार्ग बतलाइए जिससे इन्द्रिय और मन काबू में आ सकें। हे तीर्थप्रवर्तक! मेरे साथ जो अर्जुन मालाकार आया है, वह कुदेव की उपासना करने वाला असम्यक्दृष्टि है। हे कृपालो! यह हिंसा आदि आस्रवों से अनभिज्ञ है। कुदेवसेवी होने के कारण रोष के वशीभूत होकर इसने घोर पाप बांधा है। पांच महीने तेरह दिनों तक प्रतिदिन एक स्त्री और छह पुरुषों को इसने निःसंकोच होकर जान से मारा है। हे करुणा-मूर्ति! आपके अतिशय से इसके हृदय में करुणा जागृत हुई है। अपने किये हुए भयानक पाप से अब यह कांप रहा है और उन्हें याद कर-कर के बड़ी ग्लानि अनुभव करता है। निन्दनीय आचरण का प्रायश्चित्त भी करना चाहता है। हे भवरोगों के सफल चिकित्सक! जीवन की आशा छोड़ने वाले इस मृत-प्राय को धरातल पर एक मात्र आप ही जीवन देने वाले हैं। हे देव! इसलिये दृढ संकल्प व दृढ निश्चय कर आपके ही शरण-योग्य समझकर यह मेरे साथ आया है। हे पतितोद्धारक! मैं प्रार्थना करता हूँ कि इस अत्राण को त्राण दो, इस असहाय की सहायता करो और निराश्रय को अपने चरण-कमल में आश्रय दो।"

इस तरह सुदर्शन की विनयपूर्ण, यथार्थ एवं आत्महितकारी विज्ञप्ति सुनकर वर्षाकालीन मेघ के गर्जारव के समान, नाना भाषा परिणमन-स्वभाव वाली, विविध सन्देह दूर करने में समर्थ, मनोहारिणी वाणी से मुनियों के

स्वामी भगवान महावीर ने कहा— देवानुप्रिय अर्जुन ! धैर्य रख विश्वास कर मैं तुझे शान्ति का पथ बतलाऊंगा।

कुसंस्कारों के अधीन आत्मा से प्रायः ऐसे अनार्य कार्य हो ही जाते हैं उन्हें छेदने के अनेक उपाय भी चिरकाल से विद्यमान हैं। बोल क्या जानना चाहता है ?

इतने में अनेक विस्मितमानस प्रसन्नमुख एक एक से आगे बढते हुए नागरिकों से भगवान का प्रवचन स्थल भर गया। उनके सामने हाथ जोडकर बालक की तरह सरलता से अर्जुन सविनय पूछने लगा—

भगवन् ! दुःखों के कारण क्या हैं ? उन कारणों का प्रादुर्भाव कहाँ से है ? और उनका सम्पूर्ण नाश कैसे होता है ? हे त्रिकालज्ञ ! आत्मा क्यों पाप का उपचय करती है ? वहाँ कैसी वृत्ति सहायता करती है और उन पापों से छुटकारा कैसे होता है ? यही मैं जानना चाहता हूं कृपालु ! कृपा कीजिए।

अल्पाक्षर वाला भी बहुत सारगर्भित बाह्य वचनवर्गणाजय होता हुआ भी हृदयस्पर्शी विविध भावभंगीयुक्त होता हुआ भी संशय रहित जल की तरह कोमल होता हुआ भी मिथ्यात्वरूपी विशाल पर्वत का भेदन करने में समर्थ तात्पर्य से विलक्षण होता हुआ भी कारकादिलक्षण-युक्त साधारण जनवद्य होता हुआ भी गूढ रहस्य वाला सरस सुबोध और सुमधुरवाणी से भगवान ने उत्तर फरमाया— "वास्तव में देखा जाय तो यह संसार दुःखों से परिपूर्ण है। इसमें जन्म जरा मरण आदि अनेक कष्ट स्पष्ट हैं। भौतिक सुख परिणाम में विरस होने के कारण सुखाभास मात्र हैं। प्रतिक्षण संसारी जीव दुःख-दावाग्नि से जल रहे हैं। नाना प्रकार की आधि-व्याधिपूर्ण कष्ट परम्परा सह रहे हैं।

दुःख का मुख्य कारण तृष्णा है। निदानभेद से तृष्णा भी नाना प्रकार की बतलाई गई है। जैसे अनेक लोग धन की कामना करते हैं कोई काम भोग के अभिलाषी हैं कोई पुत्रादि परिवार चाहते हैं कोई ऐश्वर्य चाहते हैं कुछ लोग यश के भूखे हैं कुछ सम्मान की खोज में रहते हैं और कोई स्वास्थ्य के प्रार्थी हैं। अधिक क्या कहूँ नाना प्रकार की वस्तुओं की लालसा के कारण तृष्णा भी नाना प्रकार से लोगों को सताती है घुमाती है खिन्न करती है पीडा देती है चिन्ता करवाती है और मारती है। यह सर्वभक्षी तृष्णा राक्षसी कहीं भी तृप्त नहीं होती। लाभ होने पर फिर और लाभ की इच्छा से मुँह फाडती है ज्ञानवानों को भी अज्ञान के गड्ढे में गिराती है विरागियों को भी भव रंगमंच पर नचाती है। अत्रस्तों को त्रस्त बनाती है धनिनष्टों को नष्ट एवं दृढव्रतियों को व्रतभ्रष्ट कर देती है और शुभ संकल्पों से च्युत करती हुई धैर्यधुरन्धरों को

ध्वस्त कर देती है। जगत् मे जितने अनर्थ होते हैं वे प्राय सभी तृष्णा के परिणाम हैं। महापुरुषों के प्राणों की आहुति लेने वाले जितने महासंग्राम होते हैं वे भी प्राय सभी तृष्णा की तुष्टि के लिए ही। न्यायविरुद्ध जितने ही विवाद उठते हैं, वे भी अपने मनोरथ की पूर्ति के लिए ही। धर्म के नाम पर भी जितने उपद्रव बार-बार होते है वहाँ भी स्वार्थान्धता कारणभूत है। अस्तु तृष्णा ही दुख की जड है। तृष्णा-रूपी मृगी जिनके चित्त रूपी पहाड को छोड कर भाग निकली उन्हे सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। उदासीन वृत्ति से, सुख से रहने वालो के लिए पग-पग पर निवान है। उन माध्यस्थ दृष्टि वालो के लिए सर्वत्र ब्रह्मसाक्षात्कार है। वे मान-अपमान मे, हर्ष-शोक मे, सुख-दुख मे और जीवन-मरण मे समता भाव रखते है। अनासक्त भाव मे रमण करने वाले वे पुरुप जीते हुए भी यही किंचित् सिद्धि-सुख का अनुभव करते हैं। तृष्णा की उत्पत्ति तो पूर्वजनित कर्म सस्कार से होती है। सम्यग्ज्ञान मे ही तृष्णा का समूल नाश होता है। जैसे-जैसे तृष्णा बढेगी वैसे-वैसे प्राणी के पाप की भी अवश्य वृद्धि होगी। पाप बढने से आठ मिट्टी के लेप वाली तुम्बी की तरह प्राणी नीचे-नीचे जाता है, आस्रव वहाँ सहायक बनता है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमनशील आत्मा को भव रूप गड्ढे मे गिरा देता है। पुण्य-पाप-जनित सुख दु ख सदा अनुभव करता प्राणी कुम्भकार के चाक की ज्यो चौरासी लाख जीव-योनियो मे चक्कर खाता रहता है। जब सवर द्वारा आने वाले कर्मो को रोक कर, बँधे हुए कर्मों को निर्जरा से जर्जरीभूत बना कर समस्त पुण्य-पापमय कर्मो का निरन्वय नाश करता है, तब क्षण भर मे अग्निशिखा की भाति या एरण्डबीज की तरह स्वभाव से ऊर्ध्व-गमन करके, बन्धनो से मुक्त होकर तथा सब दुखों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है। मुक्तदशा मे आत्मा अजर, अमर, अक्षय, अव्याबाध आध्यात्मिक सुख को सादि अनन्त रूप से प्राप्त करता है और लोक के ऊर्ध्वभाग मे स्थित शाश्वत सिद्ध हो जाता है।

o———o

वैसा आनन्द प्राप्त नही होता। अत हे विश्वतारक ! पतित-से-पतित, अधम-से-अधम, नरक-गमन योग्य, निन्दनीय चरित वाले इस शरणागत का हाथ पकडकर उद्धार करो। देव ! मुझ जैसे का उद्धार करने से ही आपकी दीनोद्धारधुरधरता तथा परमकारुणिकता प्रकट होगी। उदारचरितो मे कही दृष्टिवैषम्य नही होता। आसार धारा से बरसता हुआ परोपकारी मेघ क्या ऊँची नीची भूमि को देखता है ? सारे ससार को आलोकित करने वाला सूर्य क्या घूरे-उबरडे को आलोकित नही करता ? हे परमेश्वर ! आपने तो मेरे जैसे अनेको पापी-शिरोमणियो को भवपारावार से पार किया है। फिर मेरा उद्धार करने मे आपको क्या कठिनाई है ? अतएव शीघ्र इसे शिष्यरूप मे स्वीकार कीजिए, झटपट इसे मुनि मण्डली मे स्थान दीजिए और इस जगत्-निन्दित को जगतवन्दित बनाइये।

भक्ति की शक्ति से पूर्ण अर्जुन की विज्ञप्ति सुनकर प्रभु ने फरमाया—' अर्जुन ! तू मेरे निकट निर्ग्रंथ दीक्षा लेना चाहता है। अभी तेरी भावना अत्यन्त भव्य है, परन्तु पहले पूर्णरूप से समझ लेना चाहिए कि साधुत्व असिधारा को चाटने के समान, गुरुतर लोहभार को अपने स्कन्धो पर उठाने के समान, पर्वत शिखर पर बरसते हुए मेघ के पानी के वेग से तटो को तोड देने वाली कल्लोलो से चचल, सैकडो आवर्तो से सकुल नदी के प्रतिस्रोत को तैरने के समान, मोम के दातो से लोहे के चने चबाने के समान, लक्षयोजन विस्तृत मेरु पर्वत को पगुली पर थामने के समान और नीरस बालुका को निगलने के समान दुर्निवह है, दु साध्य है और दुष्कर है। इसमे कमजोर व्यक्तियो का अधिकार नही है। वे साधुता के नाम से ही कतराते है, कांपते है और भाग जाते हैं। यह तो शौर्यशाली, वैराग्य के रग मे रगे हुए, भीषण परीषहो के विजेता एव वासना-विहीन जनो द्वारा ही सेव्य है, ग्राह्य है और आश्रयणीय हैं। जो बाल-क्रीडा की भाँति क्षणिक आवेग मे आकर शीघ्र सयम लेना चाहते है, वे किसी कष्ट-परम्परा की प्राप्त कर सयम मे शिथिलता लाते हुए श्रान्त, उद्विग्न, भ्रष्ट और मार्गच्युत हो जाते हैं। वेश मे विशेषता नही है, विशेषता है, वासना के विनाश में, तपस्या की तल्लीनता मे और आत्म-मन्दिर मे स्वाधीन रमण मे। इसलिए सयम लेने वाले को पहले दृढ-सकल्प होना चाहिये।

वर्धमान स्वामी की ऐसी ओजस्विनी एव वीरत्वावधक शिक्षा को माला की तरह धारण कर साहस-मूर्ति अर्जुन ने बलपूर्वक कहा— 'तीर्थेश ! आपकी सूचना अक्षरश सत्य है। सयम ग्रहण करना बच्चो का खेल नही है, यह मैं भी मानता हूँ, उस पर श्रद्धा और प्रतीति करता हूँ, किन्तु मेरा हृदय सुदृढ

सातवाँ समुच्छ्वास

सघन मेघ की घटा भी जैसे तीव्र वायु से बिखर जाती है वैसे ही पाप की श्रेणी तपस्या से छिन्न भिन्न हो जाती है।

—शान्तसुधारस

अनन्त शक्ति का स्वामी आत्मा कर्ममल से मलिन होने के कारण अपने स्वरूप को भूल कर पररूप मे परिणत होता हुआ अपने को शक्ति-शून्य मान कर संसार रूपी अटवी मे भ्रमण करता है। किन्तु सिंह की तरह जब वह अपने स्वरूप को पहचान लेता है तब इन जड कर्मों का नाश करने मे क्या विशेषता है! नेत्रो की निर्मलता आदि गुणो से सम्पन्न पुरुष स्वयं द्रष्टा है फिर भी सूर्यालोक की अपेक्षा रहती ही है कर्त्ता-हर्त्ता तो स्वयं आत्मा है फिर भी जिनकी आत्मा आलोकित हो चुकी हो ऐसे महापुरुषो की सहायता अपेक्षित है ही।

अस्तु यथार्थ विवेचन से विवर्धित उपशम रस से भरपूर अतिप्रशसनीय उच्च रहस्य से विलसित हृदय परिवर्तन करने मे सक्षम तथा निरन्तर स्वयं आचरित होने के कारण विशेष प्रभावशाली उपदेश सुनकर परम वैराग्य को प्राप्त होते हुए अर्जुन ने परम शान्ति परम आनन्द और परम ज्ञान पाया। मेघगर्जना के बाद जसे मयूर केका रव करता है वसे ही प्रभु के वचनामृत का पान कर स्तुति करता हुआ वह इस प्रकार सहृय निवेदन करने लगा—हे पारगत! आपके उपदेशामृत को आकठ पीकर मुझे चेतना प्राप्त हुई है। संसार की ज्वाला से अपनी आत्मा को निकालने के लिए मैं भागवती दीक्षा सोल्लास् अगीकार करना चाहता हूँ। मेघ की मूसलधार वर्षा से शान्त होने वाला दावानल कोटि-कोटि घडे के पानी से शान्त नही होता। मेरे जैसे आत तायी की रक्षा अणुव्रतो के ग्रहण से समर्थ नही होगी। महाव्रत ही मेरे दुष्कृत्यो को दूर कर सकेंगे इसमे सशय नही। जो करना है उसे एक साथ ही संकल्प की दृढता से करना चाहिए। धीरे-धीरे मन्दगति से करने वालो को

वैसा आनन्द प्राप्त नहीं होता। अत हे विश्वतारक ! पतित-से-पतित, अधम-से-अधम, नरक-गमन योग्य, निन्दनीय चरित वाले इस शरणागत का हाथ पकडकर उद्धार करो। देव ! मुझ जैसे का उद्धार करने से ही आपकी दीनोद्धारधुरधरता तथा परमकारुणिकता प्रकट होगी। उदारचरितो मे कहीं दृष्टिवैषम्य नही होता। आसार धारा से बरसता हुआ परोपकारी मेघ क्या ऊँची नीची भूमि को देखता है ? सारे ससार को आलोकित करने वाला सूर्य क्या घूरे-उकरडे को आलोकित नही करता ? हे परमेश्वर ! आपने तो मेरे जैसे अनेको पापी-शिरोमणियो को भवपारावार से पार किया है। फिर मेरा उद्धार करने मे आपको क्या कठिनाई है ? अतएव शीघ्र इसे शिष्यरूप मे स्वीकार कीजिए, झटपट इसे मुनि मण्डली में स्थान दीजिए और इस जगत्-निन्दित को जगतवन्दित बनाइये।

भक्ति की शक्ति से पूर्ण अर्जुन की विज्ञप्ति सुनकर प्रभु ने फरमाया—"अर्जुन! तू मेरे निकट निर्ग्रंथ दीक्षा लेना चाहता है। अभी तेरी भावना अत्यन्त भव्य है, परन्तु पहले पूर्णरूप से समझ लेना चाहिए कि साधुत्व असिधारा को चाटने के समान, गुरुतर लोहभार को अपने स्कन्धो पर उठाने के समान, पर्वत शिखर पर बरसते हुए मेघ के पानी के वेग से तटो को तोड देने वाली कल्लोलो से चचल, सैंकडो आवर्तो से सकुल नदी के प्रतिस्रोत को तैरने के समान, मोम के दातो से लोहे के चने चबाने के समान, लक्षयोजन विस्तृत मेरु पर्वत को अगुली पर थामने के समान और नीरस बालुका को निगलने के समान दुर्निवह है, दुसाध्य है और दुष्कर है। इसमें कमजोर व्यक्तियो का अधिकार नहीं है। वे साधुता के नाम से ही कतराते हैं, कांपते हैं और भाग जाते हैं। यह तो शौर्यशाली, वैराग्य के रग में रगे हुए, भीषण परीषहो के विजेता एव वासनाविहीन जनो द्वारा ही सेव्य है, ग्राह्य है और आश्रयणीय हैं। जो बाल-क्रीडा की भाँति क्षणिक आवेग मे आकर शीघ्र सयम लेना चाहते हैं, वे किसी कष्ट-परम्परा को प्राप्त कर सयम मे शिथिलता लाते हुए श्रान्त, उद्विग्न, भ्रष्ट और मार्गच्युत हो जाते हैं। वेश मे विशेषता नहीं है, विशेषता है, वासना के विनाश मे, तपस्या की तल्लीनता मे और आत्म-मन्दिर मे स्वाधीन रमण मे। इसलिए सयम लेने वाले को पहले दृढ-सकल्प होना चाहिये।

वर्धमान स्वामी की ऐसी ओजस्विनी एव वीरतावर्धक शिक्षा को माला की तरह धारण कर साहस-मूर्ति अर्जुन ने बलपूर्वक कहा—'तीर्थेश ! आपकी सूचना अक्षरश सत्य है। सयम ग्रहण करना बच्चो का खेल नहीं है, यह मैं भी मानता हूँ, उस पर श्रद्धा और प्रतीति करता हूँ, किन्तु मेरा हृदय सुदृढ

है, सुस्थिर है और सावधान है। भीरुता मेरे निकट भी नहीं फटकती। हे जग नियामक! मेरे जैसे दग्ध हृदय में दुर्बलता को कहाँ स्थान है? कमशूर प्राय जब धर्म में लग जाते हैं तो वहाँ भी व कभी शठता नहीं करते। हे नाथ! अधिक क्या कहूँ आपकी कृपा से चाहे प्राणों को त्याग दूंगा लेकिन अंगीकृत अभिग्रह से एक पैर भी इधर उधर नहीं रक्खूंगा।

इस प्रकार अर्जुन की पूर्ण दृढता जानकर जगद्गुरु महावीर ने कहा— जैसे सुख हो वैसा करो विलम्ब मत करो।

इस तरह भगवान की आज्ञा प्राप्त होने पर अत्यन्त हर्षविभोर सुदर्शन द्वारा प्रदत्त साधुजनोचित उपकरण लेकर परम शान्त रस में लीन दीक्षा भिलाषी अर्जुन हाथ जोडकर भगवान के समक्ष खडा हुआ।

वायु के साथ जैसे सुगन्ध दिग्मण्डल में फैल जाती है उसी तरह अर्जुन की दीक्षा का शुभसम्वाद नगर में फैल गया। इस आश्चर्यकारी वृतान्त को सुनकर कहीं दो-तीन कहीं पाँच-छह और कहीं सात-आठ व्यक्ति एकत्र होकर परस्पर बात करने लगे।

पहला—अरे सुना कि नहीं!

दूसरा—क्या? क्या?

पहला—आज अर्जुन मालाकार महावीर स्वामी के पास भागवती दीक्षा की याचना कर रहा है।

दूसरा—हैं! दुष्ट अर्जुन! जगत् का हत्यारा अर्जुन! झूठ है सरासर झूठ है। किसी के यहाँ असमय में घोडी ब्याई होगी (इस कारण झूठी अफवाह फैला दी है।)

पहला—हाथ कंगन को आरसी क्या? हम लोग अभी चलें और अर्जुन की दीक्षा देखें।

इस तरह विवाद करते हुए उत्कंठा से अनेक अन्य व्यक्ति तीव्र गति से रवाना हुए। तत्काल तीर्थंकर की परिषद् नागरिकों से खचाखच भर गई। उस समय अर्जुन साकार सात्विक रस जैसा या प्रत्यक्ष उपशममात्र जैसा दृष्टि गोचर हो रहा था। उसे देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये और मन ही मन कहने लगे—अहो! अहिंसा देवी अचिन्त्य शक्तिशालिनी है। कैसा असम्भव परिवर्तन! आततायी मनुष्य भी तायी बन गया क्रोधी भी क्षमावान् बन गया और दयाहीन भी सदय हो गया।

अब मुष्टि-लोच किए हुए अर्जुन को दीक्षा देते समय भगवान ने उसे तीन

करण, तीन योग से सर्व सावद्य योग का प्रत्याख्यान करवाया। अष्टादश पापों की निवृत्ति करवा कर पांच समिति और तीनगुप्ति मे सावधानता दिखाते हुए, सामायिक चारित्र देते हुए, दश प्रकार के यति-धर्म मे सुदृढ स्थापित किया। अनगार धर्म को ग्रहण कर शान्त, दान्त, अकिंचन, ब्रह्मचारी, कषायमुक्त और षष्ठभक्त तप (बेले-बेले) से निरन्तर आत्मा को भावित करते हुए अर्जुन मुनि ने ऐसा अभिग्रह स्वीकार किया—"जो भी कोई अनुकूल-प्रतिकूल परीषह उत्पन्न होगे उन सबको मैं आज से सम्यक्तया सहन करूंगा, खमूंगा, और ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय मोक्षमार्ग मे रमण करता हुआ सफल समय बिताऊँगा।"

ऐसी प्रतिज्ञा कर अर्जुन मुनि विनय और श्रुत का अभ्यास करते हुए, स्वाध्याय और ध्यान में रत रहते हुए, जब-जब षष्ठभक्त की पारणा होती तब तीसरे प्रहर मे भगवान की आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए राजगृह में जाते। उस समय उन्हें देखते ही कितने ही लोग प्रियवियोग के ताप से सन्तप्त हो जाते, उनका वैर उभर आता और वे विवेक की सीमा को लाघ कर, क्रोधारुण होकर घृणा के साथ कहने लगते—"धिक्-धिक्, देखो-देखो, यह आया, पाखण्डी अर्जुन! हाय! इसी दुष्ट ने मेरी परमानन्ददात्री माता को दीर्घनिद्रा मे सुलाया था।

दूसरा कहता—अरे! इसी नीच ने हमारे खानदान के छत्र-समान पूज्य पिताजी को मौत के घाट उतारा है।

एक दूसरा—हाँ, नही जानते? मेरे परम वत्सल भुजा-समान भाई रूपी सूर्य को इसी राहु ने ग्रसा है। ओह! जिस प्रियतमा के वियोग से मेरा घर श्मशान के समान और मन शून्य-सा प्रतीत हो रहा है, वह इसी दुष्ट की निर्दयता का परिणाम है।

कोई अन्य कहता—हाय! हाय इसी हत्यारे ने मेरे घर के दीपक इकलाते, अत्यन्त प्यारे, ललित केश-वेश वाले बालक को मारा है! उससे शून्य मेरी गोद ज्योतिरहित नयन की भाई असुन्दर लगती है। अरे नीच! पापी! ठगोरे! मेरे दूधमुंहे बच्चे ने तेरा क्या बिगाडा था? अरे, मैं क्या करूँ? कहा जाऊँ?" ऐसे अनेक प्रकार से पूर्व-विहित विरोध को याद कर-कर के दुखी होते अर्जुन ऋषि की अवहेलना करते हुये लोग कानो मे काटो जैसी कर्कश वाणी से भत्सना करते थे। कई गाली के साथ सख्त ढेलो से ताडना देते थे, कुछ लोग होठो को डँसते हुये मुष्टि आदि से सरोष पीटते थे, कुछ एक निर्दयता से, चमकते खड्ग से प्रहार करते थे। कतिपय अत्यन्त तेज चाकू के आघात से

उन्हे खून की धारा से स्नान करवाते थे और कई कदमादि से लिप्त करते हुए और थूकते हुए उनका अपमान करते थे। अधिक क्या कहा जाय अनेक मनुष्य अनेक प्रकार से वर याद करके प्रतिशोध लेते थे। कोई कहते—अरे निष्ठुर चित्त वाले! जान ली जान ली तेरी साधुता! लाखों चूहों को मार कर मानों बिलाव केसर-कंगन पहन कर तीर्थ यात्रा करने चला है! इधर उधर घूमने में अशक्त वृद्धसिंह ने मानों दूसरे जंगली प्राणियों को ठगने के लिए निरामिष भोजन का व्रत ग्रहण किया है! अरे कपटपटु! अत्यन्त मिष्ट मिसरी के पानी से सिंचा हुआ भी नीम क्या कभी आम बन सकता है? गंगा में नहलाया हुआ भी गदह क्या कभी जातिमान् अश्व बन सकता है? सिंह की चमड़ी पहन कर भी क्या सियार सिंह बन सकता है? अरे दंभी! क्यों संसार को ठग रहा है? दंभाचरण से क्यों भद्र प्राणियों को विप्रतारित कर रहा है? हो चुका तेरा वैराग्य! हो गई तेरी तपस्या! भर पाई तेरी आस्तिकता और क्या धरा है तेरे संयम में।

ऐसे अनेक प्रकार से आक्रोश करते हुए मनुष्यों की गर्हा निर्भर्त्सना ताडना छेदन भेदन प्राप्त करके भी अर्जुन ऋषि केवल भगवान् की शिक्षा को लक्षित करते हुए किंचित् भी क्रोध न करते और न खिन्न विलक्ष्य त्रस्त और उद्विग्न ही होते। प्रत्युत सहिष्णुभाव से हृदय में चिन्तन करते—अहो! मैंने इन नगर निवासियों का घोर अनिष्ट किया है निर्दयता से इनके अत्यन्त प्यारे स्वजनों का घात किया है, इन्हें महती क्षति पहुँचाई है और पूर्ण पशुबल से इन पर उपद्रव किया है। इस कारण ये यदि क्रोध करते हैं द्रोह करते हैं मुझ पर आक्रोश करते हैं मुझे ताडना देते हैं और मारते हैं तो अनुचित क्या करते हैं? बीजानुरूप ही फल लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? आत्मन्! तेरे सिर जो ऋण है उसे हँस हँसकर चाहे रो रो कर दे पर वापिस देना ही होगा। ऐसी स्थिति में उऋण होने की इच्छा वाले व्यक्ति को उसे हँस-हँसकर ही देना चाहिये न कि रो रो कर। ये तो बहुत कोमल हृदय वाले हैं जो मेरे किये हुए घोर अपराध की तुलना में बहुत थोड़ा दण्ड देते हैं। हाय! मेरे अपराध तो वालुका कणों से भी अधिक और अंजनगिरि से भी अधिक काले हैं। सागरोपम काल में भी दुर्भाग्य है हजार बार मर जाने पर भी उनका हलका होना कठिन है। जो थोड़े समय में मुझ महामलिन को छेदन भेदन ताडन मारण द्वारा निर्मल बनाना चाहते हैं और मेरे भारी पाप भार को हल्का करने की चेष्टा करते हैं ये तो मेरे परम मित्र हैं। क्यों न मैं हृदय से इनकी श्लाघा करूँ।

अथवा इसमें नवीनता क्या है? दूध को मथने से ही घृत निकलता है

शाण पर चढने के बाद ही मणि राजाओं के मस्तक की अनुकूल करती है, तीव्र ताप से तपाया हुआ सोना ही निर्मलता पाता है, जमीन का शोधन पर ही चन्द्र किरण जैसा धवल पानी प्रकट होता है। अहो! क्षमा ही मुमुक्षुओं का अलंकार है। क्षमा ही भिक्षुओं का अमोघ शस्त्र है। तप से कृशकाय तपस्वियों के लिए क्षमा ही महाबल है। 'क्षमा' नाम में ही 'मधुरता' है। क्षमा अभिधा से भूत-धात्री है, क्षमा प्रत्यक्ष रत्नगर्भा है, क्षमा अचला है, क्षमा अनंता है और सारा चराचर विश्व क्षमाश्रित ही है (पृथ्वी का नाम भी क्षमा है, अनन्त विशेषण लगाये गये हैं।) इसलिए मैं भी क्षमा का सहारा लूं, भक्ति से सेवा करूँ और आनन्द से उसकी उपासना करूँ। इसके अतिरिक्त यातना तो शरीर को है, ज्ञानमय आत्मा को नहीं। शरीर के संयोग से ही, 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ,' जीव ऐसा अनुभव करता है। पिंजरे में बन्द पक्षी की भांति प्राणी शरीर-रूपी पिंजरे में अवरुद्ध, काल रूपी बिलाव से सन्त्रस्त बन रहा है। अन्यथा पांच शरीरों से मुक्त आत्मा स्वरूप से उपाधिरहित, अजर, अमर, अनंत, चिद्रूप और चिदानन्दमय है एवं सदा रहता है। इस देह-पिंजर की तुलना में मेरी क्या क्षति है? परवशता ही प्रतिक्षण भयावह है। ये महाशय मुझे शीघ्र स्वाधीनता के दर्शन करायेंगे। क्यों न इन महामान्यों का मैं सम्मान करूँ? और क्यों न इन्हें प्रेमपवित्र दृष्टि से देखूं!"

इस प्रकार नाना प्रकार की विशुद्ध विचारधारा से आत्मा को भावित करते हुए, निकृष्ट वस्तु में भी श्रेष्ठता को खोजते हुए, कटुता में भी मिष्टता पैदा करते हुए, क्रोध के स्थान पर भी शान्ति का अनुशीलन करते हुए, विषाद में प्रसाद मानते हुए अर्जुन मुनि नगर में घूमने लगे। प्रत्युत्तर देना तो दूर रहा, ललाट पट्ट पर वे भृकुटि भी नहीं तानते। केवल समता भाव की ही परिशीलना करते थे।

कुछ चिन्तनशील लोग पूर्व कृत तीव्रतम अपराध को भी भुलाकर वर्तमान मुनिधर्मावलम्बन का आदर करते हुए सानन्द प्रणाम करते और सत्कार सहित भिक्षा भी देते। वहाँ भी, अर्जुन मुनि, वन्दना करने वालों को देखकर आनन्दित नहीं होते, किन्तु रागद्वेष को छोड़कर 'सबका भला हो' ऐसा मन में विचार कर चेतन और शरीर की भिन्नता मान कर धर्म एवं शुक्ल ध्यान ध्याते हुए निर्मल संयम पालने लगे।

इस तरह घोर तपस्या करते हुए अर्जुन मुनि को कभी पानी प्राप्त होता तो भोजन नहीं, भोजन मिलता तो पानी नहीं! भयानक परीषहों को सहते हुए, उदार विचारधारा को बढ़ाते हुए, अपनी आत्मा में परमात्मभाव का

अनुभव करते हुए, ध्यान रूपी-अग्नि से भीषण पापों को जलाते हुए, क्षण-क्षण में अपनी विशुद्धता प्रगट करते हुए महामुनि अर्जुन के धीरे धीरे बाह्य और आन्तरिक सारे क्लेश निःशेष होने लगे।

छह मास तक दीक्षापर्याय पालकर भावों के उत्कर्ष से क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर बारहवें गुणस्थान की आदि में मोह-महामल्ल को पछाड़कर और तेरहवें गुणस्थान के आरम्भ में शेष तीन घनघाती कर्मों को नष्ट कर उन्होंने लोकालोक प्रकाशक समस्त द्रव्यपर्यायों का साक्षात्कार करने में समर्थ केवल ज्ञान प्राप्त किया। उसके बाद ही सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती नामक शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद का अवलम्बन करके मन-वचन-काय के तीनों योगों का और श्वासोच्छ्वास का क्रमशः निरोध कर पांच ह्रस्वाक्षर उच्चारण काल की स्थिति वाले समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान के चौथे भेद को ध्याते हुए चौदहवें गुणस्थान में पहुँचकर शैलेशीभाव को प्राप्त किया। फिर शरीर त्रिक का परित्याग कर ऋजुगति से एक ही समय में साकार उपयोग सहित निर्वाण को प्राप्त हुए। आठ कर्मों के क्षय से प्राप्त अनन्त ज्ञान दर्शन आत्मिक सुख आदि आठ सिद्ध गुणों से शोभित अपुनरागति तुष रहित चावल के दाने के समान अपुनर्जन्मा अनन्त सिद्ध बुद्ध मुक्त हो गये।

— —

काव्यकर्त्ता की प्रशस्ति

१—दुःसाध्य मिथ्यात्व रोग को नाश करने वाले, परोपकारपरायण, अति-पटु, अलोभी, अनुभवी और यशस्वी आचार्य श्री भिक्षु एक वैद्यराज के समान हुए।

२—उनके शिष्य श्री भारीमालजी हुए, गुण के सागर श्री रायचदजी तीसरे, विज्ञश्रेष्ठ चौथे श्री जीतमलजी फिर पाँचवें मघवागणि हुए।

३—छट्ठे श्री माणिकलालजी नाम से और उनके बाद बड़े प्रतापी डालचन्द्रगणि हुए। आठवे पट्ट को शोभित करने वाले छोगाजी के पुत्र श्री कालूगणि हुए।

४—श्री कालूगणि की सेवा करने वाले अज्ञ भी प्राज्ञ, मूक भी वक्ता और निंदनीय भी वदनीय बन गये।

५—उनके शासनकाल मे शासन को जो गौरव प्राप्त हुआ वह विज्ञ मनुष्यो से छुपा नही है। उनके वरदान स्वरूप महान् गणीन्द्र तुलसी को प्राप्त कर कौन प्रसन्न नहीं होता ?

६—श्री तुलसी गणि की विशाल विद्या, विधियुक्त विधान, ओजस्विनी वाणी, सफल प्रयास और विचारसूक्ष्मता किन-किन गुणियो को विस्मित नही बनाती है ?

७—उनकी कृपा से, लघु विद्यार्थियो की बोधवृद्धि के लिये, यह छोटा-सा श्रम मैंने किया है।

८—यदि इसमे रसादि दोष हो तो कृतज्ञ विज्ञ उन्हे गुण रूप में परिणत करें। क्या कडवे फूलो मे भी मिष्ट मधु नही मिलता ?

९—वि० सवत् २००५ के जेठ महीने के कृष्ण पक्ष मे शतावधानी श्री धनमुनि तथा साध्वी श्री दीपाँजी का लघुभ्राता मुनि चन्दन इस रचना को पूर्ण करता हुआ कल्याण का भागी बना।

लेखक की महत्त्वपूर्ण रचनाएं*

— ॐ —

संस्कृत

- आर्जुनमालाकारम
- प्रभवप्रबोध *
- अभिनिष्क्रमणम *
- ज्योति स्फुलिङ्गा
- उपदेशामृतम *
- वैराग्यैकसप्तति *
- प्रबोधपञ्चपञ्चाशिका *
- अनुभवशतकम्
- संवरसुधा
- गीतिका त्रयोदशी
- प्रास्ताविक श्लोकशतकम *
- पञ्चतीर्थी
- आत्मभावद्वात्रिंशिका *
- पथिकपञ्चदशकम् *
- मात्रपोडशकम् *

प्राकृत

- रयणवालकहा *
- जयचरिम्र *
- णीई—धम्म—सुत्तीओ *

हिन्दी

- अन्तर्ध्वनि
- राजहंस के पंखों पर
- मौनवाणी
- मलयज-मुक्तावली
- मलयज की महक
- संतो के सुनहरे शब्द
- अध्यात्म-पदावली
- सोना और सुगन्ध
- व्याख्यान-बत्तीसी *
- गुर्जर गीताञ्जली (गुजराती) *
- पंजाब पच्चीसी *

---

* अप्रकाशित